# नैतिक जीवन

## हमारे अन्य प्रकाशन

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | आगे बढ़ो | [स्वेट मार्डन] | १॥) |
| २. | सफलता की कुँजी | [स्वामी राम तीर्थ] | १) |
| ३. | विद्यार्थी जीवन | [महात्मा नारायण स्वामी] | १॥) |
| ४. | नैतिक जीवन | [रघुनाथ प्रसाद पाठक] | २) |
| ५. | देश-देश की लोक कथाएँ | [सन्तराम वत्स्य] | ॥) |
| ६. | जातक कथाएँ | [जगन्नाथ शर्मा] | ॥) |
| ७. | झलकियाँ | [ ,, ,, ] | ॥) |
| ८. | पुरुषार्थ के पुजारी | [सन्तराम वत्स्य] | १॥) |
| ९. | चरित्रनिर्माण की कथाएँ | [ ,, ,, ] | १।) |
| १०. | देश प्रेम की कथाएँ | [ ,, ,, ] | १।) |
| ११. | राजस्थान की अमर कथाएँ | [ ,, ,, ] | १।) |
| १२. | भारतीय आदर्श नारियाँ | [ ,, ,, ] | १॥) |
| १३. | निराश प्रणयी | [अनु. बलभद्र ठाकुर] | २) |
| १४. | रूस की अमर कथाएँ | [ ,, ,, ,, ] | २) |

**सन्मार्ग प्रकाशन**

लाजपत राय मार्केट, दिल्ली

# नैतिक जीवन

लेखक
श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक
भूमिका
इन्द्र विद्या वाचस्पति
सदस्य राज्य परिषद्

प्रकाशक
सन्मार्ग प्रकाशन
लाजपतराय मार्केट, देहली

प्रथम संस्करण
जनवरी १९५५

301-M/39

मूल्य
दो रुपया आठ आना

132526

हकूमतलाल द्वारा विश्वभारती प्रेस,
पहाड़गंज, नई दिल्ली में मुद्रित

# भूमिका

जिन ग्रन्थों में प्रमाणों और युक्तियों द्वारा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है वह मनुष्यों की बुद्धि को विशुद्ध करने के लिए बहुत आवश्यक है, परन्तु उनसे हृदय की आध्यात्मिक पिपासा शान्त नहीं होती। स्वाध्याय के लिये ऐसी पुस्तकों की भी आवश्यकता है जो मनुष्य को सुबोध भाषा में जीवनी प्रयोगी बातें बताकर उसकी उन्नति में सहायता दें। यह हर्ष की बात है कि वर्षों से आर्य लेखकों का ध्यान इस प्रकार के उपयोगी साहित्य के निर्माण की ओर गया है। श्री रघुनाथप्रसाद पाठक ने 'नैतिक जीवन' लिख कर स्वाध्याय का एक सरल साधन उपस्थित कर दिया है। मनुष्य के धार्मिक और नैतिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी विषयों का सरल विवेचन किया गया है। पाठक जी का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

इन्द्र विद्या वाचस्पति
सदस्य राज्य-परिषद्

# विषय-सूची

विषय · पृष्ठ संख्या

# नैतिक जीवन

## ईश्वर

सूर्य नित्य पूर्व से निकलता और पश्चिम में डूबता है। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन नियम से होता है। आम के वृक्ष पर सेब और सेब के वृक्ष पर आम नहीं लगता। आँख से सुनने और कान से देखने का काम कभी नहीं लिया जा सकता। मनुष्य से घोड़े का और घोड़े से मनुष्य का जन्म नहीं होता। जो जन्म लेता है वह अवश्य मरता है। प्राणियों की बुद्धि, कार्य-क्षमता और संसार के सुख-दुःख आदि में विषमता होती है मनुष्य को यह निश्चय नहीं होता कि मेरे जीवन में कल क्या घटना होगी; परन्तु यह निश्चय होता है कि कल दिन अवश्य होगा। संसार की कोई वस्तु नित्य और एक रस नहीं रहती। मनुष्य शिशु से बच्चा, बच्चे से किशोर, किशोर से युवा, युवा से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्ध होता है। पृथ्वी में बीज अंकुरित होता, पौधे के रूप में परिवर्तित होकर बढ़ता, पल्लवित होता, वृक्ष का रूप लेता और अन्त में उसका अस्तित्व मिट जाता है। प्रकृति की अलौकिक रचना, सृष्टि-नियमों की अचलता, सजावट तथा शरीर की अद्भुत रचना उनके पूर्ण रहस्यों, सूक्ष्मताओं और विचित्रताओं को समझने में मनुष्य की बुद्धि की असमर्थता, संसार की परिवर्तनशीलता, मनुष्य की परवशता और अल्पज्ञता इस बात की द्योतक हैं कि इस सृष्टि के पीछे कोई सर्वोपरि, महत्तम, सर्वज्ञ, सर्व शक्ति-सम्पन्न अव्यक्त, चेतन सत्ता अपना कार्य कर रही है और इस सृष्टि का कोई मूल कारण अवश्य है और वह कारण अत्यन्त संगत और बुद्धिपूर्ण है। महान् कार्य संचालन के लि

नियम बनाता और व्यवस्था करता है परन्तु उन नियमों को कार्य में लाने वाला मनुष्य होता है। नाव या जहाज चलाने के नियम बनाए जाते हैं परन्तु केवल उन नियमों से नाव या जहाज स्वत: जल में नहीं चल सकते जब तक उनको चलाने वाली कोई चेतन सत्ता न हो। इसी प्रकार सृष्टि के नियमों का संचालन स्वत: नहीं हो सकता जब तक उन नियमों के अनुसार कार्य कराने वाली चेतन सत्ता न हो। इसी अव्यक्त, असीम चेतन सत्ता को हम ईश्वर कहते हैं और केवल यही हमारी पूजा, उपासना और निष्ठा की वस्तु होनी चाहिए। हमारे हृदयों में परमात्मा के लिये वही उच्च स्थान होना चाहिए जो उसे सृष्टि में प्राप्त है।

यह समस्त दृश्यमान जगत् परमात्मा के शासनाधीन है। जब बिना शासक के एक छोटे से राज्य की व्यवस्था और शान्ति कायम नही रह सकती तब फिर सृष्टि जैसे असीम और विशाल साम्राज्य की व्यवस्था और शान्ति बिना सर्वोपरि शासक के क्योंकर संभव हो सकती है? संसार का शासन परमात्मा के हाथ में है। हम सब उसके बच्चे हैं। उसके खिलौने हैं। हमें इस विशाल साम्राज्य के एक अच्छे नागरिक और प्रजाजन के रूप में अपने कर्त्तव्य का सुन्दर रीति से पालन करना है। उसका फल देना उसी के हाथ में है। वह फल अच्छा हो इसके लिये प्रयत्न करना हमारे अपने हाथ की बात है, क्योंकि हम कर्म करने में स्वतन्त्र हैं। उसकी सृष्टि को बिगाड़ने वा उसके प्रति अपराध करने के दंड से हम कदापि नहीं बच सकते क्योंकि वह हमारे हृदयगत भावों और कर्मों को जानता है चाहे हम उन्हें कितना ही छिपकर क्यों न करें। हम संसार के लोगों से अपने भाव और दुष्कर्म छिपा सकते हैं मानवीय न्याय से बच सकते हैं परन्तु ईश्वरीय न्याय से नहीं बच सकते। ईश्वरीय न्याय का फल मिलता है अवश्य मिलता है भले ही उसके मिलने में विलम्ब हो जाय।

सृष्टि की रचना में ईश्वर का मुख्यतम उद्देश्य परोपकार है। इसीलिये ईश्वर की सृष्टि में सबसे सुखी परोपकारी जन होते है। परमात्मा ने नाना

प्रकार के उत्तमोत्तम पदार्थ देकर उत्तमोत्तम व्यवस्था करके और नियम बनाकर मनुष्य पर अमित उपकार किए हैं। जिस प्रकार बच्चा अपने माता पिता के ऋण से उऋण नहीं हो सकता और उपकार का बदला नहीं चुका सकता उसी प्रकार सृष्टि के प्राणी परमपिता परमात्मा के ऋण से सर्वांशत: उऋण नहीं हो सकते। यदि हम अपने व्यवहार से अपनी मानवता से, लोगों के हृदयों में न्याय, सत्य, और धर्म का आचरण कर ईश्वर की सत्ता को दृढ़ करके उसके महान् गौरवशाली पुत्र नहीं बन सकते तो कम से कम हमें मनुष्य बने रहकर सृष्टि के सौन्दर्य की रक्षा और उसकी हर्ष वृद्धि में थोड़ा बहुत योग अवश्य देना चाहिए और इस प्रकार परमात्मा के उपकारों के प्रति कृतज्ञ भाव प्रदर्शित करना चाहिए।

हम परमात्मा को भौतिक नेत्रों से नहीं देख सकते। परन्तु वह हमारे हृदय के गुह्यतम भाग में बैठा हुआ अपने अस्तित्व का हमें अनुभव कराता रहता है। उसकी अव्यक्त मूक वाणी सदैव सत्पथ का निर्देश करती और हमें पाप से सावधान करती रहती है। हममें ज्यों २ धर्म्माचरण के द्वारा इस वाणी को सुनने और उस पर ध्यान देने की योग्यता आती है त्यों २ हमारे हृदय में उसका प्रकाश बढ़ता और हम सत्कर्म की ओर प्रेरित होने लगते हैं।

मनुष्य संसार में अकेला आता है और खाली हाथ आता है। यहाँ से अकेला ही और खाली हाथ जाता है, माता पिता, भाई बहिन, पत्नी आदि स्वजन हितैषी और मित्र कोई साथ नहीं जाता। धन वैभव भी साथ न जाकर केवल उसका धर्म्म साथ जाता है। आत्मा की पवित्रता और बल मृत्यु के भय से उसकी रक्षा करते हैं। जो लोग धर्म्माचरण वा ईश्वर की आज्ञा पालन में अपना पूरा वा अधिक जीवन व्यतीत करते हैं वे मृत्यु का हंसते २ सामना करते हैं और उन्हें जीवन पर्यन्त जिस प्रकार ईश्वर की सहायता का भरोसा रहता है उसी प्रकार मृत्यु के क्षणों में ईश्वर की सहायता का भरोसा रहता है। जब हम सब ओर से निरुपाय हो जाते हैं

तो उसी की शरण में शान्ति मिलती है। इसीलिये हमारी इच्छाएँ, हमारे कर्म, हमारे सांसारिक सम्बन्ध, हमारे मन, बुद्धि, और आत्मा ये सब परमात्मा की ओर प्रेरित रहने चाहिएं और यह भाव बद्ध मूल हो जाना चाहिए कि परमात्मा सुख में हमारी विनम्रता और कृतज्ञता की दुःख और विपत्ति में धैर्य की, अन्धकार में श्रद्धा की और प्रलोभनों में हमारी दृढ़ता की परीक्षा लेता है। परमात्मा की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बनाने का फल यह होता है हमारा अपना विकास होकर सृष्टि के प्राणियों के साथ हमारे सम्बन्ध उत्तम और मधुर बन जाते हैं।

मनुष्य ज्यों ज्यों ईश्वर के निकट होता जाता है त्यों त्यों वह परमात्मा से डरने और उससे प्रेम भी करने लग जाता है। परमात्मा से डरने का अर्थ है पाप व बुराई से बचना और आत्मा परमात्मा के ज्ञान की प्राप्ति करना। अपना और परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने वाले के लिये कुछ और जानना शेष नहीं रह जाता। ईश्वर से प्रेम करने वाले के लिये परमात्मा की आज्ञा का पालन करने में कठिनाई नहीं होती। उस समय वह सब वस्तुओं में परमात्मा को और परमात्मा में सब वस्तुओं को देखने का अभ्यासी बनकर विश्व प्रेम से ओत-प्रोत होकर संसार के हर्ष समुदाय में पूरा २ योग देकर अपने लोक और परलोक दोनों को सिद्ध कर लेता है।

जब संसार के पदार्थ उसके अधिकार में होते हैं तब वह उन सब पदार्थों में परमात्मा की सत्ता अनुभव करता है और जब पदार्थ उससे पृथक् हो जाते हैं तब वह उन पदार्थों को परमात्मा में विलीन हुआ समझता है और इस रीति से उनका प्रयोग प्रशस्त करके अपने को और अपने साथ समाज को प्रशस्त बना देता है।

# धर्म

प्रत्येक व्यक्ति की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि दूसरे व्यक्ति उसके साथ सत्य, न्याय, दया, प्रेम, और सहानुभूति का व्यवहार करें और उसे किसी से दु:ख और कष्ट न हो, परन्तु ऐसा तभी संभव हो सकता है जब वह स्वयं दूसरों के साथ ऐसा ही व्यवहार करे। व्यवहार का यह आदर्श उच्चतम माना जाता है। दूसरे शब्दों में इसे धर्ममय व्यवहार कह सकते हैं। इस आचरण में सफल होने के लिये मनुष्य को बुद्धि की अपेक्षा हृदय की प्रेरणा पर अधिक ध्यान देना होता है। इस आदर्श की रक्षा करने में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ प्रायः अधिक सफल होती हैं क्योंकि वे मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय से अधिक सोचती हैं। इस प्रकार के आचरण से मनुष्य का अपना विकास होने के साथ-साथ उसके सामाजिक सम्बन्ध भी मधुर बन जाते हैं। मनुष्य का व्यक्तिगत आचरण ऐसा होना चाहिए जिससे उसका अपना आत्मिक हित होता हो और सामाजिक आचरण ऐसा हो जिससे समाज का हित सिद्ध होता हो। इसके लिये समाज व व्यक्ति को प्रेम, सहानुभूति, न्याय और धर्म का आचरण अपनाना अनिवार्य होता है। दूसरों के हित को लक्ष्य में रखने वाले आचरण में परतन्त्र रहना पड़ता है। अवश्य अपने लिये लाभदायक आचरण में वह स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार के आचरण की योग्यता मनुष्य में तब आती है जब वह सब प्राणियों को अपने समान जानता और सबको परमात्मा की सन्तान अनुभव करता हुआ अपने को एक विशाल परिवार का अंग समझता है। उस समय वह प्रत्येक अच्छे वा बुरे काम के लिये परमात्मा के प्रति अपने को उत्तरदाता समझने लगता है।

धर्म और अधर्म का निश्चय परमात्मा के ज्ञान और सत्पुरुषों के आचार से होता है। धर्म अधर्म की पहचान विकसित हुई अन्तरात्मा की प्रेरणाओं से होती है जो स्वतः परमात्मा की मूक

वाणी होती है। जो सदैव मनुष्य को धर्म की प्रेरणा करती और अधर्म से सावधान करती है। प्राणियों को समझने की आध्यात्मिक समानता के मार्ग में छोटे-बड़े उच्च, नीच, धनी निर्धन, काले गोरे, श्वेत अश्वेत स्पृश्य, अस्पृश्य के कृत्रिम भेदबाधक नहीं बनते। उस समय मनुष्य की दृष्टि में केवल एक समता रहती है और वह यह कि सब मनुष्य उत्पन्न होते मरते और भलाई बुराई का अवश्यम्भावी फल भोगते हैं। इस समता के अतिरिक्त उनमें रुचि, योग्यता, धन सम्पत्ति बुद्धि, कार्य, क्षमता, आदि की असमानता रहती है और उसे कोई मिटा नहीं सकता। जो लोग भौतिक पदार्थों, खाने पीने, पहनने, घर, गृहस्थ सामान आदि के सब लोगों में समान वितरण के द्वारा सबको भौतिक दृष्टि से समान बनाने की चेष्टा करते हैं उनकी भावना भले ही उत्तम हो, परन्तु वह बड़ी भ्रम पूर्ण और अव्या-वहारिक है। अपने उद्देश्य की सफलता के लिये वे जिन साधनों का सहारा लेते हैं जिनमें सशस्त्र क्रान्ति अराजकता लूट मार, मारकाट और बन्हीदाह आदि सम्मिलित हैं वे एक दम अमानवीय त्याज्य और भयंकर हैं। उद्देश्य की पवित्रता तभी स्थिर रहती है जब उसकी पूर्ति के साधन भी पवित्र हों। भौतिक उन्नति साधन है साध्य नहीं यह तो मनुष्य के आत्मिक विकास का साधन है। इसकी मर्यादा तभी कायम रहती वा रह सकती है जब यह धर्म पूर्वक की जाय और धर्म पूर्वक ही इसका उपयोग किया जाय। अपने परिश्रम से और न्याय युक्त उपायों से उपार्जित किया हुआ धन ही ठीक माना जाता है जिसके उपार्जन में अपनी आत्मा का हनन और दूसरों का स्वत्वापहरण न हो। इस धन के उपयोग की मर्यादा यह है कि उसका उतना ही अंश उत्तम प्रकार से उपभोग में लाया जाय जितना अपनी जीवन यात्रा के लिये अनिवार्य हो और शेष भाग समाज की धरोहर समझा जाय। दूसरों के स्वत्वों को मारकर गर्हित ढंग से सम्पत्ति का उपार्जन करना और अमर्यादित रूप से उसका दुरुपयोग करना बड़ा भारी सामाजिक अपराध होता है जिसका दण्ड समूची जाति वा समाज को भोगना पड़ता

है। अधर्म युक्त अर्थ के साथ काम की मर्यादा और पवित्रता भी दूषित हो जाया करती है और ऐसा होने पर भोगवाद ही जीवन लक्ष्य बन जाता है। दूसरे के स्वत्वों का अपहरण करना और दूसरों के धन का लूटना वा बलात छीनना ये दोनों प्राय: एक समान माने जाते हैं। इनकी जीती जागती मिसाल वर्तमान कालीन पूंजीवाद और साम्यवाद हैं। पूंजीवाद ने एक ओर बड़े-बड़े अमीरों और बड़े-बड़े गरीबों की सृष्टि करके संसार में ईर्ष्या द्वेष फूट और अशान्ति फैलाई हुई है और साम्यवाद ने सबको आर्थिक दृष्टि से समान बनाने के जनून में क्रान्ति और हिंसा का आश्रय लेकर तबाही मचाई हुई है। व्यक्ति का उत्थान और समाज का कल्याण दोनों से ही संभव नहीं है क्योंकि दोनों का लक्ष्य भौतिक और इन्द्रियासक्ति है। यदि इन्द्रियों का सुख और आनन्द ही वास्तविक सुख और आनन्द होता तो पशु अधिक सुखी होता परन्तु बात यह नहीं है। वास्तविक सुख वा आनन्द तो मनुष्य की आत्मा के सुख वा आनन्द में निहित होता है और इसकी प्राप्ति जीवन का वास्तविक लक्ष्य होता है। केवल भोगवाद का आश्रय लेकर किसी जाति ने संसार का नेतृत्व किया हो इतिहास इसका साक्षी नहीं है। नेतृत्व तो मर्यादित रूप से भौतिक सुखों का आनन्द लेने वाली धर्म परायण, आस्तिक और आत्मिक विकास को लक्ष्य में रखने वाली जातियों का रहा है और रहेगा। जिन व्यक्तियों और जातियों ने भोगवाद हत्या, लूटपाट, और युद्ध को जीवन का चरम लक्ष्य समझा और उनके आगे बढ़ने की चेष्टा नहीं की उनके अस्तित्व का लोप होते देर न लगी। तभी तो कहा जाता है कि कंचन और कामिनी के चक्र में फंसे हुए इन्द्रिय लोलुप व्यक्ति धर्म का मर्म नहीं जान पाते॥

परिवार समाज की इकाई होती है। परिवारों के अच्छा होने पर व्यक्ति अच्छे बनते और व्यक्तियों के अच्छा होने पर समाज अच्छा बनता है। जिसने अपने पारिवारिक कर्तव्यों का उचित रीति से पालन कर लिया

और अपने परिवार के लोगों को सुखी और बच्चों को हर प्रकार से सुयोग्य बना लिया तो समझो उसने धर्म और ईश्वराज्ञा का यथेष्ट रीति से पालन किया। यदि उस व्यक्ति को धार्मिक कर्मकान्ड के लिये अवकाश न मिलता हो और मन्दिर, मस्जिद वा गिरजे में जाना न मिलता हो तो वह व्यक्ति उस व्यक्ति से अच्छा है जो नित्य मन्दिर, मस्जिद व गिरजे में जाता हो, पूजा पाट में निरत रहता हो परन्तु जिस से पारिवारिक कर्तव्यों की घोर उपेक्षा होती हो। वस्तुतः परिवार पवित्र देव स्थान होता है, और परिवार की वेदि, मन्दिर, मस्जिद और गिरजे की वेदि से कम पवित्र नहीं होती। इसी भाँति पारिवारिक कर्तव्यों के बलिदान पर सामाजिक कर्तव्यों का अनुष्ठान और सामाजिक हित का व्यक्तिगत वा पारिवारिक हित पर बलिदान ये दोनों ही सुख और उन्नति का कारण नहीं होते। व्यक्ति की अपनी महत्ता और पवित्रता होती है, जिसका ज्ञान और अनुभव मनुष्य को धर्म के द्वारा होता है। समाज की अपनी महत्ता और उपादेयता होती है जिसके बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता। मनुष्य के लिए समाज और समाज के लिए मनुष्य देन सिद्ध हों इसके लिये आवश्यक है कि व्यक्ति का पूरा-पूरा विकास हो और वह समाज का हर प्रकार से मूल्यवान और उपयोगी अँग बने। यह तभी संभव होता है जब मनुष्य को विकास की पूरी-पूरी सुविधाएं प्राप्त हों और उसका व्यक्तित्व कुचला न जाय, और व्यक्ति समाज की अशान्ति और दोहन शोषण का कारण न बने। साम्यवाद की आर्थिक प्रणाली में व्यक्ति का व्यक्तित्व इतना कुचल दिया गया है कि उसका प्रायः लोप सा हो गया है। पूंजीवाद से व्यक्ति को इतना अधिक महत्व मिला और वह इतना निरकुंश और उश्रृंखल बना कि उसने समाज की कोई परवाह न की और समाज में मनमानी चलाई। आज की विश्व व्यापी अशान्ति के मूल में यह बात भी प्रबल रूप से काम कर रही है। व्यक्ति और समाज के मध्य राज मार्ग का काम धर्म करता है जो मनुष्य को परमात्मा के सन्निकट ले जाने वाला होता

है। तभी तो लाप्लास जैसा अनीश्वर वादी दार्शनिक जो धर्म और ईश्वर को व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिये अनावश्यक माना करता था अपने लम्बे अनुभव के आधार पर यह कहने के लिये बाध्य हो गया था कि धर्म भाव के बिना न तो समाज सुखी बन सकता है और न सम्मानित। वस्तुतः धर्म ही सदाचार की दृढ़तम आधार शिला होती है जिस पर खड़ा समाज का भवन और राज्य सुखी समृद्ध और स्थिर रहते हैं।

राज्य-व्यवस्था का ध्येय व्यक्ति और समाज का विकास और उनकी रक्षा करना होता है। राज्य-व्यवस्था की उत्तमता और रक्षा धर्म और सदाचार से सुरक्षित रहती है। धर्म से ही शासन को शक्ति प्राप्त होती, कानून में बल आता और दोनों का सम्यक् संचालन होता है। यदि दुराचार भ्रष्टाचार, अन्याय और अत्याचार के कारण राज्य के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाय तो राज्य का भवन बहुत दिन नहीं टिकता। प्रजा को खिला-पिला कर मोटा ताजा करने वा उसके शरीर को सजा देने से तो काम नहीं चलता। जिस प्रकार बलिष्ठ शरीर की बिना आत्मिक और सांस्कृतिक विकास के कोई उपयोगिता नहीं होती अपितु वह पर पीड़न का कारण भी बन जाता है उसी प्रकार प्रजा के शरीरों को बनाने और उनका भौतिक स्टैन्डर्ड ऊँचा कर देने मात्र से काम नहीं चलता। काम तब चलता है जब शरीर हृष्ट-पुष्ट और शोभायुक्त होने के साथ-साथ आत्मिक बल और शोभा से भी युक्त हो। असाम्प्रदायिक राज्य का परीक्षण करने वाली राज्य सत्ताओं को इस बात को पल्ले में बाँध लेना चाहिए।

संगठित धर्म से जिससे साम्प्रदायिकता को प्रश्रय मिले राजतन्त्र को अछूता रखा जाय यह बात बिल्कुल ठीक है परन्तु साम्प्रदायिकता के दूरीकरण के अन्धे जोश में आस्तिकता और नैतिकता का राजतन्त्र से बहिष्कार कर देना भयंकर भूल होती है। निस्सन्देह धर्म भावना को राजनैतिक कुचक्र का हथियार बनाना और समाज में तबाही उत्पन्न कर देना बड़ा जघन्य और अधार्मिक कार्य होता है और जब यह कार्य धर्म के नाम पर धर्म रक्षा की

दुहाई देकर अपने को धर्म ध्वजी कहने वाले व्यक्तियों के द्वारा किया जाय तब तो यह मानव को दानव के रूप में प्रस्तुत कर देने वाला होता है। वर्तमान युग में भारत आदि देशों में राजनीति का दामन इस प्रकार के राजनीतिज्ञों द्वारा जितना कलुषित हुआ है उतना शायद कभी न हुआ हो। यही कारण है "धर्म" शब्द से ही लोगों को घोर घृणा हो गई है और वह बदनाम हो गया है।

नैतिकता को ईश्वर विश्वास से पृथक कर देने वा मान लेने से भी काम नहीं चलता, क्योंकि वह निष्क्रिय और प्रेरणा विहीन होती है। आस्तिकता और धर्म ही मनुष्य के मानसिक क्षितिज को विस्तृत करते और मनुष्य के हृदय को अत्युच्च जनोपकारी भावों से परिपूर्ण करते हैं। धर्म से आत्मा को जो आनन्द और उष्णता मिलती है वह कोरी नैतिकता के आचरण से नहीं मिलती। आस्तिकता के कारण ही मनुष्य में अपनी अल्पज्ञता का भाव उत्पन्न होकर विनय भाव आता वह बुराई से डरता और भलाई से प्रोत्साहित होता है। बिना ईश्वर विश्वास और उसके निर्भ्रान्त ज्ञान के नैतिकता और अनैतिकता का निर्णय भी असंभव होता है इसीलिए वह निर्जीव और आत्मा को बहुत कम अपील करने वाली होती है। इस सम्बन्ध में अमेरिका के प्रसिद्ध राष्ट्रपति वाशिंगटन की अनुभव पूर्ण चेतावनी पर विशेष ध्यान देना चाहिए विशेषतः उन राजनीतिज्ञों को जो कोरी नैतिकता के आधार पर धर्म और ईश्वर का बहिष्कार करके सदाचार के प्रसार और राज्य की सुख समृद्धि का मीठा स्वप्न लेते हैं। "जिन मानवीय तत्वों से राजनैतिक समृद्धि प्राप्त होती है उनमें धर्म और नैतिकता ये दो मुख्य स्तम्भ होते हैं। उस व्यक्ति की देश भक्ति की कीर्ति व्यर्थ है जो नागरिक कर्त्तव्यों और सुखों के इन दृढ़ स्तम्भों की उपेक्षा करता हो। धर्म के बिना सदाचार की रक्षा हो सकती है यह क्लिष्ट कल्पना है। किसी शिक्षा पद्धति का मस्तिष्क पर भले ही अच्छा प्रभाव पड़ता हो बुद्धि और अनुभव दोनों यह मानने के लिये तयार नहीं कि आस्तिकता और

धार्मिक सिद्धान्तों के बिना राष्ट्रीय चरित्र की रक्षा हो सकती है। जो राष्ट्र जन साधारण में उत्तम धार्मिक ग्रन्थों के व्यापक प्रचार पर ध्यान देकर उनको धार्मिक नहीं बनाते उनका भविष्य अन्धकार में रहता है''। बौद्ध धर्म ने ईश्वर की उपेक्षा करके लोगों की नैतिकता और मनुष्य के सामाजिक व्यवहार व सम्बन्ध पर बल दिया। राजाश्रय में उसकी शिक्षाओं का बड़ा व्यापक प्रचार हुआ परन्तु वह प्रचार गहरा सिद्ध न हो सका। केवल नैतिकता की फिलासफी से लोगों को उच्च प्रेरणाएं उपलब्ध न हुई और ईश्वर का भय न होने के कारण बुराई पर कोई प्रतिबन्ध न रहा और उसे खुली छुट्टी मिल गई। इस उश्रृंखलता का एक भयंकर रूप हमें वाम मार्ग में देख पड़ा।

विज्ञान के इस युग में जहाँ प्रत्येक बात बुद्धि व तर्क की कसौटी पर परखी जाती है, बुद्धि की कसौटी पर खरे न उतरने वाले मत किस प्रकार स्थिर रह सकते वा प्रेरणा दे सकते हैं? विज्ञान की ऊहापोह ने मनुष्य को बुद्धि जीवी बनाया, बड़े-बड़े अद्भुत चमत्कार दिखाए परन्तु मनुष्य के हृदय के रस को सुखा दिया। इससे मनुष्य नास्तिक और क्रूर बना तथा इन्द्रिया-सक्ति चरम सीमा को पहुँची। विज्ञान विहीन धर्म और धर्म विहीन विज्ञान ये दोनों ही अहित कारी होते हैं। जो धर्म तर्क व बुद्धि की उपेक्षा पूर्वक विकसित होते हैं वे अन्ध विश्वास, अत्याचार, और वर्वरता का दृश्य उपस्थित करते हैं और जो विज्ञान आस्तिकता की उपेक्षा पूर्वक विकसित होता है उससे नास्तिकता अपवित्रता और इन्द्रियासक्ति बढ़ती है। इन दोनों के समन्वय से ही धर्म का महत्त्व स्थापित होता और स्थिर रहता है और ये दोनों कल्याणकारी बनकर संसार को सुखधाम बनाते हैं।

नैतिक जीवन का आधार आस्तिकता और धर्मपरायणता है। धर्म आचरण का विषय है जिसका सम्बन्ध जीवन के प्रतिदिन के व्यवहार से होता और जिसका परिचय मनुष्य के जीवन और हृदय से मिलता है। जिस प्रक्रिया वा आचरण से मनुष्य की आत्मा में निहित सत्य, न्याय, निष्पक्षता,

निष्कपटता, करुणा, दया, क्षमा पर-हितकातरता आदि देवत्व का विकास होकर मनुष्य को परमात्मा के साथ बाँधने वाली डोरी दृढ़ बने मनुष्य का पशुत्व काबू में रहे और लोक सुधर जाय उसे धर्माचरण कहते हैं।

धर्म, ईमान और विश्वास का विषय नहीं है। शरीर की अनुचित साधना, होठों की अनवरत गति, घुटनों का टेकना, जप, व्रत, तीर्थ, तिलक, छाप देवी देवताओं का पूजन अर्चन और अनुष्ठान आदि कर्मकांड के चिह्न भी धर्म के परिचायक नहीं हैं। मनुष्य कितना ही बड़ा कर्मकांडी और मज-हबी क्यों न हो, यदि उसके जीवन से दूसरों के हृदय पर प्रभाव न पड़ता हो तो वह धर्म की प्रतिष्ठा को खोने वाला ही समझा जा सकता है। इसी प्रकार कोई मनुष्य कितना ही बड़ा विद्वान् और पंडित क्यों न हो, यदि उसका आचार व्यवहार पंडितों और विद्वानों जैसा न हो तो उसे पंडित नहीं कह सकते। यदि उसकी प्रखर बुद्धि के विकास के साथ-साथ उसके हृदय का रस सूख गया हो उसकी बुद्धि, ज्ञान और उसके पांडित्य का दुरु-पयोग विनाश और पर-पीड़न में होता तो उसे सभ्य बर्बर और उसकी विद्वत्ता को सभ्य बर्बरता ही कह सकते हैं। ऐसे विद्वानों और ज्ञान सम्पन्न व्यक्तियों की अपेक्षा तो वह अनपढ़ या कम पढ़ा लिखा हुआ व्यक्ति उत्तम है जो बुराई से डरता और परमात्मा का भय मानता हो। बुराई से डरना परमात्मा से डरने के समान होता है। ऐसे व्यक्तियों में धर्म भाव अधिक पाया जाता है। संसार का प्रत्यक्ष अनुभव भी इसकी पुष्टि करता है।

यदि किसी व्यक्ति में धार्मिक प्रवृत्ति पाई जाय तो समझो वह धार्मिक है। इस प्रवृत्ति का विकास सद्भ्यास और सत्याचरण से होता है। इस का स्वरूप पवित्र और शुद्ध होता है। महान् विकसित आत्माओं में यह पवित्रता परमात्मा की आज्ञा का पालन ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य निर्धारित करा देती है। इसके विकास से मनुष्य के हृदय में प्रायः शुभ प्रेरणाएँ उठतीं हृदय प्रफुल्ल और शान्त रहता, पारस्परिक व्यवहार की त्रुटियाँ दूर हो जातीं और मनुष्य, समाज

का उपयोगी अंग बन जाता है। जो व्यक्ति रात-दिन निष्काम भाव से परोपकार और जन-सेवा में संलग्न रहते, जिनका जीवन और व्यवहार पवित्र और लोगों की निष्पक्ष आलोचना से ऊपर रहता, जो अपनी अन्तरात्मा और परमात्मा की दृष्टि में निर्दोष रहते और जिनका प्रत्येक काम परमात्मा की भेंट स्वरूप होता है उनमें इस प्रवृत्ति का अलौकिक स्वरूप और प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ऐसे धर्म परायण व्यक्ति ईश्वर के परम प्रिय होते और संसार के लिए देन होते हैं। परमात्मा की आज्ञा पालन करने का अभिप्राय है कि मनुष्य अपने को अच्छा और सुखी बनाए साथ ही दूसरों को भी सुखी और उत्तम बनाए। मनुष्य परमात्मा की सर्वोत्तम कृति है क्यों कि उसी में अपना आत्मिक विकास करते-करते परमात्मा का दर्शन करने की सामर्थ्य होती है।

संसार से घृणा करना और उसमें अत्यधिक आसक्त होना ये दोनों ही मनुष्य के विकास में बाधक होते हैं। संसार से घृणा करके वा निरपेक्ष रह कर मुक्ति की साधना की भावना ने मनुष्य समाज का बड़ा अकल्याण किया है। इससे सबसे बड़ी हानि समष्टि गत जीवन को पहुँची है। प्रारब्ध के भरोसे बैठकर और समाज की उन्नति व दोषों के प्रति निरपेक्ष भाव रखकर मनुष्य ने अपने सांसारिक कर्त्तव्यों को बुरी तरह ठुकराया है जिसके कुफल भावी सन्तति को पूरी तरह भोगने पड़े हैं। अत्यधिक सांसारिकता मनुष्य को स्वार्थ, अहंकार, क्रोध, ईर्ष्या, छल, कपट, महत्वाकांक्षा, शक्ति और इन्द्रियासक्ति से विमूढ़ करके और पतित बनाकर मनुष्य के आध्यात्मिक विकास को कुंठित करती और समाज में अशान्ति और क्लेश को बढ़ाती है। ये दोनों किनारे की बातें मनुष्य के धार्मिक और लौकिक विकास में बाधक होती हैं। परमात्मा ने मनुष्य को एक देन के रूप में जीवन प्रदान किया है। वह जीवन अपने वा दूसरों के लिये अभिशाप बने यह सृष्टिकर्त्ता का अभिप्राय नहीं है। उसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी उन्नति करे संसार का सुख भोगे, परन्तु दूसरों की उन्नति और सुख में न केवल बाधक ही न बने

अपितु दूसरों को यत्न करके उन्नत और सुखी बनाए। इस प्रकार मनुष्य का जीवन सफल व आदर्श होता है। संसार का कोई आनन्द और भोग वर्जित नहीं है, उसे भोगने की मनुष्य को स्वतन्त्रता है परन्तु शर्त यह है कि वे भोग और आनन्द शुद्ध, पवित्र और निर्दोष बनाकर भोगे जाँय। उनमें आसक्ति उत्पन्न न होने दी जाय। इसका साधन धर्म है। आज भोगवाद के कुहरे में मनुष्य का आध्यात्मिक लक्ष्य छुप गया है और उसने भोगवाद को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य समझ लिया है। इसीलिए भोगवाद के भंवर में फँसी हुई जीवन नौका की रक्षा दूभर हो गई है, इसीलिये समाज में त्राहि-त्राहि मची हुई है, इसीलिये मनुष्य की आसुरी वृत्ति संसार की शान्ति के साथ खिलवाड़ कर रही है, इसीलिये संसार पतन और विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है, इसीलिये वह ज्वालामुखी के मुख पर खड़ा है, इसीलिये मनुष्य शक्ति और वैभव के मद में भूला हुआ अणु और उद्जन बमों के सहारे अपने को सुरक्षित और अजेय समझ रहा है। वह भूल गया है कि वह अल्पज्ञ है उससे कहीं महती एक और सत्ता है, जो उससे कहीं अधिक शक्ति-शालिनी है और जिसके हाथ में संसार का भाग्य सूत्र है।

# संसार

मानव-जीवन का चरम लक्ष्य जैसा कि पूर्व बताया जा चुका है परमात्म-दर्शन होता है। दूसरे शब्दों में इसे मनुष्य की आत्मा में निहित देवत्व का विकास और पशुत्व का दमन भी कह सकते हैं। मनुष्य को संसार में से गुज़र कर अपनी जीवन-यात्रा पूरी करनी होती है। लक्ष्य की पूर्ति के लिए संसार का सहायक बनना आवश्यक है। संसार सहायक तब बनता है जब उसका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके तदनुकूल आचरण किया जाय। संसार में से गुज़रने पर ही मनुष्य को अपनी कमज़ोरियों का ठीक-ठीक पता लगता है। कमज़ोरियों को जानना, उनमें सुधार करना, सृष्टि कर्ता के अमित उपकारों के लिए उसका कृतज्ञ बनना, सृष्टि के सौन्दर्य का आनन्द लेना, उसको सुरक्षित रखना और अपना उत्थान करते हुए समाज की शान्ति में अधिक-से-अधिक योग देना वह उपाय है जिसके द्वारा संसार का सदुपयोग होकर अपने लक्ष्य की सुगमता से पूर्ति हो सकती है।

अधिकांश व्यक्ति संसार को दुःख और अशान्ति का घर समझते हैं। बहुत थोड़े व्यक्ति संसार को सुख और सौन्दर्य का धाम मानते हैं। वस्तुतः संसार में सुख और दुःख दोनों होते हैं परन्तु दुःख की अपेक्षा सुख अधिक होता है। संसार का सुख वा दुःख पूर्ण होना मनुष्य की अपनी मनः अवस्था पर निर्भर होता है। यदि मनुष्य सुख पर दृष्टि रखता है तो संसार उसे सुखमय देख पड़ता है और यदि दुःख पर दृष्टि रखता है तो दुःखमय जान पड़ता है। संसार आइना होता है जिसमें से मनुष्य का आभ्यन्तर प्रतिबिम्बित और लक्षित होता रहता है। यदि हम संसार को टेढ़ी नज़र से देखते हैं तो बदले में यह भी हमें टेढ़ी नजर से देखता है। यदि हम संसार

को प्रसन्नमन से मुस्कराते हुए देखते हैं तो बदले में वह भी हम पर मुस्कराता और हमारा मित्र बन जाता है। अतः संसार के वास्तविक स्वरूप को भली भाँति जान और समझकर अपने को संसार के योग्य और संसार को अपने योग्य बनाना कल्याण-प्रद होता है। लम्बे जीवन के साथ-साथ अच्छे जीवन के लिए यत्न करने वाले और अपने आप को परमात्मा के हाथ में खिलौना बनाकर संसार यात्रा करने वाले जन ही संसार को अपने लिए अधिक-से-अधिक उपयुक्त और आनन्द-प्रद बनाने में सफल होते हैं।

संसार को हम कितना ही बुरा क्यों न कहें बिना संसार के एक क्षण के लिए भी हमारा काम नहीं चल सकता। संसार की विविधता और द्वन्द—सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, यश-अपयश, मान-अपमान, हानि-लाभ आदि—ही उसे रहने योग्य जगह बनाते हैं। यदि उसमें निरा सुख वा निरा दुःख ही होता तो न तो मनुष्य का स्वतंत्र कर्तृत्व स्थापित होता और न दुःख के बिना सुख की वास्तविक अनुभूति होती। अच्छे-से-अच्छे और चतुर-से-चतुर व्यक्ति के जीवन में संसार से खिन्न और उस पर क्रुद्ध होने के अवसर आते हैं परन्तु अपना समय अच्छी तरह व्यतीत और अपने कर्तव्य का उत्तम रीति से पालन करने वाले व्यक्ति को असंतुष्ट होने का बहुत कम अवसर मिलता है। संसार से चिपटे हुए व्यक्ति दुःख के जरा से झोंके से विचलित होकर संसार को कोसने लग जाते हैं परन्तु वे यह नहीं देखते कि हम स्वयं उस दुःख के लिए कितने जिम्मेवार हैं।

संसार कर्म-भूमि है। मनुष्य को अपने पिछले जन्म के संचित कर्मों का फल उसी में भोगना पड़ता है और आगे के लिए संचय करना होता है। संसार में आसक्त जन सांसारिक वैभव के उपार्जन और उपभोग को अपना परम पुरुषार्थ मानते हैं परन्तु आवश्यकता से अधिक सम्पदा और भोगों से शान्ति प्राप्त नहीं होती वरन् तृष्णा और अशान्ति बढ़ती रहती है। शान्ति तो आत्मा से सम्बद्ध होती है। जो मन में शांति की खोज करते हैं वे भ्रम में ग्रसित होते हैं। उनकी दृष्टि में केवल लोक होता है इसीलिए वे परलोक

के लिए बहुत कम सम्पत्ति एकत्र कर पाते हैं। परलोक के लिए आध्यात्मिक सम्पत्ति एकत्र होनी चाहिए और यही मनुष्य के साथ परलोक में जाती है। चरित्र शून्य करोड़पतियों की अपेक्षा चरित्रवान् अकिंचन (ग़रीब) प्राणी इस लोक में अधिक मूल्यवान सम्पत्ति छोड़ते हैं। वे व्यक्ति धन्य हैं जो इस अक्षय सम्पत्ति के उपार्जन में संलग्न रहते हैं। ऐसे व्यक्ति लोक और परलोक दोनों को अपनी दृष्टि में रखकर सावधानता और दृढ़ता के साथ संसार-यात्रा में प्रवृत्त होते हैं। धीरे-धीरे उनकी दृष्टि से लोक ओझल होता और परलोक सामने आता जाता है। उनके हृदय परलोक जाने से पूर्व ही वहाँ पहुँच जाते हैं। ऐसे व्यक्ति संसार में जल में कमल के समान रहते और परलोक सुधार की संभावनाएँ बढ़ाते हुए इस लोक को उपकृत करते रहते हैं। उनका हृदय उस निर्मल जल-धारा के समान होता है जिसमें किनारे के समस्त पदार्थ साफ़ दिखाई देते हैं परन्तु वह उन पदार्थों की मलिनता से मुक्त रहती है। उन हृदयों पर संसार के पदार्थों का प्रभाव तो देख पड़ता है परन्तु उनकी मलिनता नहीं देख पड़ती। धन-सम्पदा का उपार्जन और उपभोग सांसारिकता नहीं है अपितु परमात्मा, आत्मा और सृष्टि को ढकोसला बतलाकर धन-वैभव को इष्टदेव मानना और स्वार्थ से अन्धा होकर मानवता को ठुकराना ही सांसारिकता है।

संसार क्या है ? यह परमात्मा की सर्व-हितकारिणी इच्छा का चमत्कार और उसकी पुनीत लीला की एक झाँकी है। उसके ज़र्रे-ज़र्रे से उसकी सत्ता और महत्ता का आभास मिलता है। संसार की सुघड़ता, नियम बद्धता और अलौकिकता इस बात की द्योतक हैं कि परमात्मा को प्राणी मात्र के हित का बड़ा ध्यान रहता है। वह सृष्टि की रचना इसलिए नहीं करता है कि मनुष्य उसमें अपने को भुलाकर परमात्मा को भूल जाय। ऐसा करना तो घोर कृतघ्नता है।

लोग संसार की निन्दा करते हैं। निन्दा करने की अपेक्षा उसका रहस्य जानना उत्तम है। लोग संसार की उपेक्षा करते हैं उपेक्षा करने की अपेक्षा

उसका अध्ययन करना श्रेयष्कर है। लोग संसार का दुरुपयोग करते हैं। दुरुपयोग करने की अपेक्षा उसका सदुपयोग करना कल्याण-कारी है। संसार की उन्नति और हर्ष समुदाय में अपना अधिक-से-अधिक योग देकर उसको अच्छा बनाना प्रत्येक स्त्री और पुरुष का परम कर्त्तव्य होना चाहिए।

———

# मानव-जीवन

मनुष्य जन्म लेता है। किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में से गुज़र कर अन्त में मर जाता है। जीवन के इस प्रकार के प्रत्येक परिवर्त्तन की नई २ आशाएँ, नई २ अनुभूतियाँ, नए २ कर्त्तव्य नए २ संबंध और नए २ उत्तरदायित्व होते हैं। मनुष्य को पता नहीं लगता कि उसने भूतकाल में क्या किया, उस पर क्या बीती भविष्य में उसका क्या होगा, कैसे बीतेगी। मनुष्य की अल्पज्ञता, संसार की प्रत्येक वस्तु की परिवर्तन शीलता, एक अवस्था और एक स्थिति का सदैव न रहना, जीवन के ताने-बाने का सुख और दुःख के धागों से बुना जाना अपने कर्मों के अनुसार फल भोगने के लिये विवश रहना यह सब बातें इस बात की द्योतक हैं कि हमारे जीवन का सूत्र किसी अलौकिक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् महत्तम सत्ता के हाथ में होता है। मनुष्य की यह परवशता उसे जीवन में विनम्रता धारण करने के लिये बाध्य करती और उसे मनुष्य बनने की प्रेरणा करती है।

मनुष्य का जीवन वस्तुतः आत्मा का बन्दीगृह होता है। मनुष्य को वास्तविक आनन्द और सुख जन्म मरण के चक्र से छूटकर परमात्मा में विलीन होने पर मिलता है। जीवन मृत्यु की यात्रा होती और मृत्यु जीवन का पासपोर्ट होता है। मनुष्य का परम पुरुषार्थ परमानन्द की प्राप्ति होता है। परमात्मा की ओर उठने से मनुष्य का जीवन उसी प्रकार शुद्ध और पवित्र बनता है जिस प्रकार समुद्र का खारी जल ऊपर को उठने पर शुद्ध होता है।

जीवन व्यतीत करने की सर्वोत्तम शैली वह होती है जिससे हर प्रकार की परतन्त्रता से मुक्ति मिलती हो और जिससे मृत्यु का भय सर्वथा दूर हो जाय।

जिनके सामने जीवन का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता वे संसार के प्रवाह में बहते और लुढ़कते हुए जीवन यात्रा पूरी करते हैं। ऐसे व्यक्ति जीते नहीं अपितु श्वास पूरे करते हैं। जो प्राय: संसार को कोसते और जीवन से तंग रहते हुए भी मरने से बहुत डरते हैं ऐसे व्यक्ति जीते हुए भी मरे हुए के समान होते और संसार पर भार होते हैं। जीवन के भोगों और आनन्दों में अमर्यादित रूप से लिप्त होने वा उनमें वृद्धि करने से मृत्यु के भय और कष्टों में वृद्धि होती है। जो व्यक्ति जीवन का अर्थ नियन्त्रण और परोपकार मानते, प्रकृति की देन को जीवित रहने और धर्म की देन को अच्छी तरह जीवित रहने का साधन मानते हैं उनमें यह भावना घर कर जाती है कि जीवन प्रवाह अनन्त है और यह केवल आनन्द करने के लिए नहीं अपितु कुछ सीखने के लिये मिला है। जीवन का वास्तविक आनन्द उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होता है जो इस संसार को प्रतिक्षण छोड़ने के लिये तैयार रहते हैं। जिनकी कीर्ति मरने के बाद संसार में कायम रहती है वे व्यक्ति मर जाने पर भी जीवित रहते और जिनकी संसार में निन्दा होती है वे जीते हुए भी मरे के समान होते हैं। मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिए कि संसार से विदा हो जाने पर भी उसका अभाव खटके।

लोग जीवन में सफल होने के लिये दौड़-धूप करते, संघर्ष करते, धन सम्पत्ति बटोरते और एक-एक पाई और एक-एक इंच भूमि के लिये मरने मारने को उतारू रहते हैं। वे बड़े-बड़े महल और भवन बनाकर छोड़ जाने और बैंकों इत्यादि में सैकड़ों, हजारों, लक्षों, और करोड़ों रुपया जमा करके रख देने में जीवन की सफलता समझते हैं परन्तु जब उनके जीवन के खाते की जाँच पड़ताल होती है तो उनका खाता आध्यात्मिक सम्पदा से शून्य पाया जाता और वे दिवालिया देख पड़ते हैं। ऐसे व्यक्ति मृत्यु की कल्पना से ही काँपने लग जाते हैं और जब मरने का समय आता है तब वे मृत्यु के भय से किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं। बहुतों को तो जीवन के वास्तविक

ध्येय की अनुभूति अन्त समय में होती है परन्तु उस समय सिवा पछताने के और कुछ नहीं होता।

जीवन का अर्थ है कर्मण्यता। शरीर और आत्मा का सम्यक् विकास। साधारणतः शरीर का हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर बनना शरीर का विकास माना जाता है परन्तु शरीर के अवयव जब तक विकसित होकर यशस्वी नहीं बनते तब तक सही अर्थों में वे विकसित नहीं माने जाते। मनुष्य की मानसिक और आत्मिक क्षमताओं का विकसित हो जाना आत्मा का विकास माना जाता है। शरीर और आत्मा का विकास तब संभव होता और कायम रहता है जब इन्द्रियाँ आत्मा के शासन में रहती हैं और आत्मा शरीर और इन्द्रियों के शासन में नहीं रहता। इस रीति से स्वस्थ शरीर में स्वस्थ आत्मा निवास करता, स्वस्थ और विकसित आत्मा शरीर को वास्तविक पुरुषार्थ में निरत रखता और मनुष्य उत्तम जीवन व्यतीत करता हुआ चिरकाल तक जीवित रहता है।

मनुष्य प्रायः अधिक समय तक जीवित रहने की इच्छा करता है परन्तु उस व्यक्ति का चिरकाल पर्यन्त जीवित रहना स्वागत योग्य होता है जिसका जीवन समाज के लिये उपयोगी होता है। यदि मनुष्य को उसकी इच्छाओं के पैमाने से नापा जाय तो उसके लिये अधिक से अधिक लम्बा जीवन भी अपर्याप्त होता है। यदि उसके शुभकर्मों के पैमाने से नापा जाय तो समाज के लिए उसका लम्बा जीवन बहुत अपर्याप्त होता है। यदि उसके दुष्कर्मों के पैमाने से नापा जाय तो उसका थोड़े से थोड़ा जीवन भी आवश्यकता से अधिक पर्याप्त है। जो व्यक्ति बहुत अधिक सोचते, उच्च भावनाओं से प्रभावित रहते और श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान में लगे रहते हैं वे ही अधिक काल तक जीने के अधिकारी होते हैं।

मानव जीवन उन फूलों के समान होना चाहिए, जो सदैव अपनी सुगन्ध और पराग से वन प्रदेश को सुगन्धित और शोभा युक्त रखते और

वृक्ष से गिर जाने पर भी सम्मानित स्थान पाते हैं। अपने जीवन को अच्छा बुरा सुगन्ध वा दुर्गन्धमय बनाना हमारे अपने हाथ में है। जिस अनुपात में जीवन श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान में लगा होगा उसी अनुपात में यह अच्छा तथा अपने और परायों के लिये उपयोगी होगा। मनुष्य का जीवन इस प्रकार नियमित होना चाहिए जिससे वह समस्त संसार के सामने स्पष्ट हो। किसी वस्तु को अपने पड़ोसी से छुपाने का क्या अर्थ है जबकि घटघट वासी प्रभु हमारी गुप्त से गुप्त बात को जानता है।

# मनुष्य

मनन और विवेक शील प्राणी को मनुष्य कहते हैं। विवेक शून्य मनुष्य पशु के समान होता है, जिसमें बुरे-भले की पहचान नहीं होती। मनुष्य बनने के लिए सदैव विवेक से काम लेकर बुराई से बचना और भलाई में प्रवृत्त रहना चाहिए। ऐसा करने से ही मनुष्य-मनुष्य कहलाने का अधिकारी होता है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सीखने और जानने से ही उसे ज्ञान प्राप्त होता है। उसका ज्ञान स्वाभाविक और एक समान रहने वाला नहीं होता। यही कारण है कि मनुष्य अधिक से अधिक उन्नत और अवनत हो जाता है। बिना समाज के न तो वह पालित पोषित हो सकता है और न विकसित, इस दृष्टि से वह सर्वथा समाज पर आश्रित होता है। अच्छे समाज में रहने पर मनुष्य अच्छा और बुरे समाज में रहने पर बुरा बन जाता है। समाज द्वारा संस्कृत और विकसित मनुष्य श्रेष्ठतम और न्याय एवं नियन्त्रण विहीन मनुष्य भयंकरतम पशु होता है। मनुष्य के सम्यक् विकास के लिये आवश्यक है कि उसके आस-पास का समाज और वातावरण उत्तम हो। साधारणतः मनुष्य वातावरण और परिस्थिति का दास होता है परन्तु मनुष्य वही होता है जो इन दोनों को उपयोगी बनाकर मनुष्यत्व के आचरण में तत्पर रहे। कोई मनुष्य अच्छा है या बुरा इसकी सबसे सुगम पहचान यह है कि यह देखा जाय कि वह किस प्रकार के समाज से सम्पर्क रखता है। यदि वह अच्छे व्यक्तियों के संसर्ग में रहता है तो समझो वह अच्छा है और यदि बुरे व्यक्तियों के संसर्ग में रहता है तो बुरा है।

मनुष्य संसार का एक महान् आश्चर्य है। मनुष्य का अध्ययन संसार का सर्वोत्तम अध्ययन माना जाता है। इतिहास, न्याय विधान, धर्म नीति दर्शन शास्त्र और शरीर विज्ञान आदि संसार की समस्त विद्याएँ मानव की

व्याख्याओं और अध्ययन के परिणामों से ओत-प्रोत हैं। इतिहास बताता है कि समाज में उसका स्थान क्या रहा, न्याय विधान बताता है कि वह क्या करता है। शरीर विज्ञान बताता है कि उसका अन्तिम आदर्श क्या होना चाहिये।

मनुष्य के अध्ययन का फल बड़ा उच्च और बड़ा हीन है। वह रहता तो पृथ्वी पर है परन्तु बातें आकाश से करता है। वह अपने मन में अपने को समस्त वस्तुओं का स्वामी और अधिपति मानता है परन्तु ईश्वरीय नियमों और व्यवस्थाओं से बंधा हुआ किसी वस्तु पर भी शासन नहीं कर सकता। वह वहुत छोटा है परन्तु अपने को बहुत बड़ा मानता है। वह परस्पर विरोधिनी अनेकानेक बातों का समूह है—ओह ! कितना धनी, कितना निर्धन, कितना भव्य, कितना दीन, कितना रहस्यमय, कितना आश्चर्यजनक, कितना बुद्धिमान् कितना निर्बुद्धि, कितना भव्य, कितना भयानक, कितना उच्च, और कितना पतित ! उसकी इच्छाएँ बड़ी तुच्छ और बड़ी पतनकारिणी हैं इस पर भी वह उच्च भावनाओं और उद्देश्यों पर केन्द्रित आत्मा की सेवा करती हैं, और आकाश के समान ऊँची उठकर ससीम मनुष्य को असीम प्रभु की ओर ले जाती हैं जहाँ उसे सुख और शान्ति मिलती है।

मनुष्य को मनुष्य बनने के लिये आवश्यक है कि उसका शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास साथ २ हो। सब मनुष्यों का यही ध्येय होना चाहिए। इसी में मनुष्य की महत्ता निहित होती है। इसी महत्ता से मनुष्य धर्मात्मा, बुद्धिमान् और निर्भीक बना करता है। इन तीनों के बल पर मनुष्य चिन्ताओं परेशानियों और भय से मुक्त रहता है।

मनुष्य की पहचान उसकी शक्ल सूरत, धन वैभव, वस्त्राभूषण आदि से नहीं अपितु उसके चरित्र से, उसकी बातों से, और उसके कार्यों से हुआ करती है। उसका चरित्र और कार्य ऐसा होना चाहिए जिससे उन्हीं के द्वारा मनुष्य की प्रशंसा हो, और मनुष्य को अपने मुँह से अपनी प्रशंसा

में कुछ कहना न पड़े। इसी प्रकार धार्मिक, राजनैतिक और शैक्षणिक प्रणालियों की पहचान उन मनुष्यों के द्वारा हुआ करती हैं जिन्हें ये प्रणालियाँ बनाया करती हैं। आज साधारणतया मनुष्य प्रत्येक प्रकार का पशु बना हुआ देख पड़ता है। आज का सामान्य मनुष्य धन सम्पत्ति और भोग का दास बना हुआ है। आज मनुष्य की योग्यता, अयोग्यता, पांडित्य, विद्वत्ता, उपयोगिता और अनुपयोगिता का माप दण्ड धन वैभव बना हुआ है। शिक्षा का लक्ष्य आजीविकोपार्जन बन गया है। राजनीति जुआ है और प्राय: स्वार्थियों तथा अवसर वादियों का शुग़ल बनी हुई है। धर्म भी प्राय: रोटी का और लोगों को आपस में लड़ाने और मार काट मचाने का कुटिल राजनीतिज्ञों का साधन बन गया है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रणालियाँ मानव के लिये देनसिद्ध होने के स्थान में भार और अभिशाप बन गई हैं। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य का, मानव जीवन का लक्ष्य, बदलकर स्वस्थ्य बने जिससे मनुष्य अपनी सृजना को गौरवान्वित कर सके। सबसे बड़ी गड़बड़ मानव की भावना भ्रम मूलक निरूपण और स्पष्टीकरण के कारण उत्पन्न हुई है। मनुष्य की महत्ता और पवित्रता पर बल दिए बिना वह पशुओं की कोटि में रखा गया। उसकी निम्न गामिनी प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराए बिना उसकी देव कोटि में गणना की गई। इन दोनों तत्त्वों से ही वह अनभिज्ञ रखा गया। इन व्याख्याओं का दुष्परिणाम यह हुआ कि मनुष्य के पशुत्व को खुली छुट्टी मिली। परमात्मा का डर उसके हृदय से निकल गया, मनुष्य परमात्मा के मियमों की उपेक्षा करके उन्हें चुनौती देने लग गया। ऐसी अवस्थाओं की कल्पना से भयभीत होकर ही दूरदर्शी तत्त्व वेत्ता यह कहने के लिये बाध्य हुआ कि यदि संसार में ईश्वर न भी होता तो संसार की सुख और शान्ति के लिये उसका आविष्कार करना पड़ता।

आज मनुष्य ज्ञान-विज्ञान धन-वैभव, कला-कौशल, उद्योग-धन्धों, संगठित संस्थाओं और विविध प्रणालियों आदि की दृष्टि से नियन्त्रित और

सुव्यवस्थित है। परन्तु प्रश्न यह है कि मनुष्य के ज्ञान का क्या प्रयोग हो रहा है, वह क्या बना हुआ है और वह क्या कर रहा है, इस प्रश्न का उत्तर बड़ा निराशा जनक है। वह तो अपने निम्नतम स्तर पर पहुँचा देख पड़ता और नरक की सृष्टि कर रहा है। उसका ज्ञान-विज्ञान, धन-ऐश्वर्य और पांडित्य यदि उसके उच्चतम स्तर की ओर प्रेरित रहता तो निश्चय ही स्वर्ग की सृष्टि हो जाती। स्वर्ग नरक ये दो अवस्थाएँ अति दुःख और अति सुख की अवस्थाएँ होती हैं जिनकी सृष्टि मनुष्य के अपने वश की बात होती है। धन्य हैं वे मनुष्य जो स्वर्ग की अवस्थाएं उत्पन्न करने में निरत रहते हैं और जिन्हें पृथ्वीमाता हर्ष और गौरव के साथ अपनी विशिष्ट भेंट के रूप में प्रभु के अर्पण किया करती है।

प्रत्येक मनुष्य में गुण और अवगुण दोनों होते हैं। श्रेष्ठजन मनुष्य के उज्ज्वल पक्ष को सामने रखते, उससे प्रकाश ग्रहण करते और उसका आदर करते हुए अपने साथ उन मनुष्यों की तथा समाज की उन्नति में सुन्दर योग दिया करते हैं। जिन मनुष्यों को हम पतित और बुरा कहते हैं उनमें भी कुछ-न-कुछ अच्छाई मिल जाती है। जिन मनुष्यों को हम श्रेष्ठ और उत्तम कहते हैं उनमें भी बुराई पाई जाती है। दोनों के बीच में मनुष्य विभाजक रेखा नहीं खींच सकता जबकि स्वयं परमात्मा ने ऐसी रेखा नहीं खींची। इसीलिये श्रेष्ठ पुरुष बुरे से घृणा न करके उन्हें सही मार्ग पर लाने का यत्न करते हैं और आत्म निरीक्षण के द्वारा अपने जीवन की त्रुटियों को मिटाते रहते हैं।

इन्द्रियों के मन के आधीन, मन के बुद्धि के अधीन, और बुद्धि के आत्मा के अधीन होने से मनुष्य का विकास और नियन्त्रण होता है। इस प्रकार के नियन्त्रण और विकास के फलस्वरूप मनुष्य सुन्दरता की अनुभूति का मूक आनन्द उठाता, सत्य से प्रेम करता, बुराई से घृणा करता, सत्कर्म में प्रवृत्त रहता और दूसरों का अपने समान आदर करता है।

संसार से विदा होते समय मनुष्य के साथ कोई वस्तु नहीं जाती। केवल

उसका चरित्र साथ जाता है। भावी सन्तति के उपकार के लिये मनुष्य जो श्रेष्ठतम सम्पदा छोड़ता है वह उसकी सच्चरित्रता होती है। भावी सन्तति कृतज्ञता और आनन्द से विभोर होकर उसके उपकारों का गुणगान किया करती है। जीवित अवस्था में गुणों की अपेक्षा मनुष्य का अधिक सम्मान होता है परन्तु मरने के पश्चात् भावी सन्तान व्यक्ति की अपेक्षा उसके गुणों का अधिक आदर किया करती है।

# धन

जीवित रहने के लिए धन अनिवार्य होता है। बिना "काम" के मनुष्य जीवित रह सकता है परन्तु अर्थ (भोजन, वस्त्र, घर, गृहस्थ का सामान) के बिना न वह जीवित रह सकता है और न उसका काम चल सकता है। ब्रह्मचारी से लेकर संन्यासी तक प्रत्येक मनुष्य और प्राणी को जीवित रहने के लिए भोजन और वस्त्र की आवश्यकता होती है। भोजन प्रत्यक्षतः शरीर की आवश्यकता होती है और 'काम' मन की। आत्मा के साथ इस आवश्यकता का प्रत्यक्षत: कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रत्येक चेतन प्राणी का इन अनिवार्य वस्तुओं पर मौलिक अधिकार होता है। इसीलिये प्रत्येक सुशासन इस बात पर विशेष ध्यान रखता है कि प्रजा का कोई व्यक्ति भूख से न मरे और प्रत्येक समर्थ व्यक्ति उन्नति व आजीविकोपार्जन के अवसरों से वंचित न हो। जब मनुष्य इस अधिकार से वंचित हो जाता वा कर दिया जाता है जब वह भूख की ज्वाला से पीड़ित होता है तब वह दुष्कर्म करने में आगा-पीछा नहीं सोचता। भूखे को भोजन मिल जाय, नंगे को वस्त्र मिल जाय, सिर टेकने के लिये घर मिल जाय इससे बढ़कर और क्या भौतिक शान्ति हो सकती है? साधारणतया अशान्ति तो प्रायः आवश्यकता से अधिक और बिना भूख के खाने से उत्पन्न होती है। सर्दी, गर्मी और वर्षा से रक्षा करने के लिये वस्त्र आवश्यक होता है। एक मात्र शरीर को सजाने के लिये वस्त्र पहनने, एकत्र करने विविध अनावश्यक सामान को आवश्यक बना कर संग्रह करने से भी अशान्ति व्याप्त होती है। दूसरे शब्दों में भोजन के जीभ का और वस्त्रादि के अनुचित विलास का विषय बन जाने से ये मौलिक आवश्यकताएँ अनिवार्य आवश्यकताओं के क्षेत्र से बहिष्कृत होकर जीवन का साधन न रह कर ध्येय बन जाती है। यहीं से गड़बड़ उत्पन्न होती, मर्यादा भंग होती और अर्थ अशुद्धि प्रारम्भ होती है। इसीलिये समाज

की शान्ति और व्यक्ति के विकास के लिये अर्थ शुद्धि पर विशेष बल दिया जाता है।

अर्थ शुद्धि का अर्थ यह है कि उत्तम रीति से अर्थ पैदा किया जाय और उत्तम रीति से ही खर्च किया जाय जिससे अपनी आयु और भोग में बाधा न पड़े और दूसरों के स्वत्वों का अपहरण न हो। सत्य और ईमानदारी से परिपूर्ण अपने परिश्रम से कमाया हुआ धन अधिक पवित्र होता और उसके उचित उपयोग में अपूर्व मिठास होती है। वैध आवश्यकताओं की पूर्ति में प्रयुक्त और यथा संभव अधिक-से-अधिक पर हित में व्यय होने से धन की पवित्रता बढ़ती है। वैध आवश्यकताएँ वे होती हैं जिनकी मर्यादित पूर्ति से शरीर और आत्मा विकसित होकर मनुष्य का आध्यात्मिक विकास सुरक्षित रहता है। इसके लिये सरल जीवन और उच्च विचार के आदर्श को अपनाकर त्याग भाव से वस्तुओं का प्रयोग करना अनिवार्य होता है। इस आदर्श को चरितार्थ करने की योग्यता तब आती है जब मनुष्य संसार के पदार्थों की आसक्ति से पृथक् रहकर उनमें अपना केवल प्रयोगाधिकार मानने लगता है।

धन का महत्व उचित वस्तुओं के क्रय करने में निहित होता है। ज्ञानपूर्वक प्रयुक्त होने और गुणों की वृद्धि करने से धन का मूल्य बढ़ जाता है। यह ठीक है कि व्याज से धन में वृद्धि होती है। धन का मूल्य बढ़ जाता है परन्तु यदि धन की वृद्धि के साथ साथ आत्मा संकुचित होता जाय तो यह बृद्धि किस काम की? पर हित में व्यय होने से धन का मूल्य बढ़ता जाता है। उस पर परमात्मा की मुहर अंकित होती और वह धन परलोक का साधक बनता है। केवल अपने ऊपर व्यय हुआ धन पैर की बेड़ी बनता और दूसरों की भलाई में व्यय हुआ धन पैरों में पंख लगा देता है जिनके द्वारा मनुष्य परमात्मा की ओर उड़कर जाने में समर्थ हो जाता है।

धन स्वतः बुरा नहीं होता। धन की पवित्रता और अपवित्रता उसकी प्राप्ति और उपयोग की रीति पर अवलम्बित होती है। धनोपार्जन और

उपयोग के कुत्सित ढंग, धन का अनुचित मोह और उसकी दासता अर्थ अशुद्धि के मुख्य कारण होते हैं। संसार के सब मोह प्रायः अन्धे होते हैं और उसमें भी धन का मोह विशेष रूप से अन्धा होता है। यदि धन के उपार्जन और उपयोग में अपने मान, अपने आत्मा, सत्य न्याय और सदाचार का खून होता हो और समाज में ईर्ष्या, द्वेष, होड़ आदि विविध बुराइयाँ उत्पन्न होकर धन की अनुचित प्रतिष्ठा बढ़ती हो तो निश्चय ही धन की मर्यादा नष्ट होती है। धन के प्रति मनुष्य का प्रेम स्वाभाविक होता है और इससे मनुष्य को पुरुषार्थ की प्रेरणा मिलती है। संसार के सम्बन्धों को बनाने और बिगाड़ने में इसका बहुत बड़ा हाथ रहता है। धन के कमाने और खर्च करने में मर्यादा के भीतर रहने के लिए योग्यता और विवेक परमावश्यक होते हैं। चोर और डाकू भी धन के कमाने में बहुत परिश्रम करते हैं। अंधेरी रात हो, घनघोर वर्षा हो रही हो, कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा हो चोर चोरी करने के लिये निकलता है बीसियों कोस पैदल चला जाता है वह उग्र परिश्रम करता और तप का परिचय देता है। परन्तु क्या उसका परिश्रम सत्-परिश्रम कहा जा सकता है? नहीं, इसलिये धन के कमाने में परिश्रम तो होना चाहिए परन्तु वह सत् परिश्रम हो और मर्यादित हो। अयोग्य व्यक्ति धन के दास और योग्य धन के स्वामी होते हैं, जिन्हें धन मन चाहा नाच नहीं नचा सकता।

धन से अत्यधिक प्रेम और घृणा ये दोनों किनारे की बातें हैं। इन दोनों से ही मनुष्य के प्रति उपेक्षा उत्पन्न होती है। सच्ची आवश्यकताओं को भुलाकर अपने मन को मारना वा कर्त्तव्यों को ठुकराना बड़ा दुर्बल संयम होता है। धन का वास्तविक मूल्य समझना, कमाना उचित आवश्यकताओं और आनन्दों पर मर्यादित रूप से व्यय करना, जोड़ना और कर्त्तव्य के अर्पण करना प्रशस्त होता है। मनुष्य सदैव धन के ऊपर रहना और रखा जाना चाहिए। जो व्यक्ति अपने धन से अपने को और अपने साथ दूसरों को बनाता है उसके और धन को बटोर कर रखने वाले के जीवन

साफल्य और सामाजिक सम्मान में जो अन्तर होता है तनिक उस पर विचार करो। उत्तराधिकार का जो धन अयोग्य और कुपात्र के हाथ में जाता है वह समाज के लिए बड़ा घातक सिद्ध होता है। धन की तृष्णा बड़ी पतन कारिणी होती है। वह धन के साथ-साथ बढ़ती रहती है, घटती नहीं। एक स्थान की पूर्ति होती है तो दूसरा स्थान खाली हो जाता है और यह क्रम चलता रहता है। धन की वृद्धि के साथ-साथ चिन्ता और भय भी बढ़ते रहते हैं। धन को अनुचित रीति से बटोर कर रखने और उसको हवा न लगने देने से उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। धन की रक्षा करने के भय की अपेक्षा परमात्मा का भय अधिक अच्छा और निश्चिन्तता प्रदान करने वाला होता है। तभी बुद्धिमान् लोग इस भय का अधिक स्वागत करते हैं। कंजूस, स्वार्थी और लोभी व्यक्ति धन रखते हुए भी अशान्त और निर्धन बने रहते हैं। जो मन का धनी होता है वही वास्तव में धनी होता है। फ़िज़ूल खर्च भी प्रायः निर्धन रहते हैं क्योंकि उनके पास धन नहीं होता। धनवान को मन का धनी होना चाहिए और फ़िज़ूल खर्च को मितव्ययी बनना चाहिए इसी में सुख और आदर है। कर्जदार से धन का मूल्य पूछो। कर्ज लेना आपत्ति को निमन्त्रण देना होता है। कर्ज के लेने में विशेष सावधान रहना चाहिए और ऋणदाता को मनुष्यत्व की परिधि में रहना चाहिए।

ऐसा कोई काम नहीं जो धन से सिद्ध न हो सकता हो। धन से मूर्ख विद्वान्, असज्जन, सज्जन, पतित आदरणीय, असभ्य गम्य, दुराचारी, सदाचारी और धनहीन इनसे उल्टा बन सकता है।

धन के पर्दे में मनुष्य का प्रायः प्रत्येक दूषण छिप जाता है। धन की इस प्रकार की मान्यता समाज में तब व्याप्त होती है जब धन धर्म पर हावी हो जाता है। आज की हमारी सामाजिक व्यवस्था इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। आज सर्वत्र धन की पूजा और मान्यता है। आज की सामाजिक व्यवस्था में उस मनुष्य का निर्माण हो रहा है जिसका बाह्य उज्जवल है परन्तु आभ्यन्तर काला है। उसकी तुलना उस सेव के साथ की जा

सकती है जो बाहर से तो देखने में अच्छा हो परन्तु जिसके भीतर कीड़े भरे हों।

धन धर्म पर कब हावी होता है? जब धन की आधार शिला ब्रह्मचर्य और संयम पर अवलम्बित नहीं रहती। ऐसा तब होता है जब मनुष्य का जीवन ध्येय खाना-पीना और मौज उड़ाना बन कर वातावरण अशुद्ध हो जाता है। अतः अशुद्ध वातावरण को शुद्ध करने की परमावश्तकता होती है। राज्य और समाज के विशिष्ट जनों के पारस्परिक सहयोग तथा प्रयत्न से ही वातावरण में शुद्धि व्याप्त होती है।

———

# निर्धनता

एक बार अमेरिका के कुलीन और सम्भ्रान्त घरों की कुछ देवियाँ जिन्होंने राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के दर्शन न किए थे उनके दर्शनों के लिए सीनेट हाल में एकत्र हुईं। महात्मा लिंकन का जन्म एक अत्यन्त निर्धन परिवार में हुआ था। वे स्वयं अपने अध्यवसाय और परिश्रम से सौभाग्य की सीढ़ी पर चढ़कर अमेरिका के सम्मान्यतम् पद पर आसीन हुए थे। जीवन की जिस सादगी और पवित्रता ने महापुरुष बनने में उनको मूल्यवान् योग दिया था वही सादगी और पवित्रता राष्ट्रपति बन जाने पर भी उनके जीवन में ओत प्रोत थी। लिंकन आए और जब वे हाल में प्रविष्ट होकर अपने मंच की ओर जाने लगे तब उन देवियों को जिन्होंने फ़ैशनेबिल और रोबदाब से परिपूर्ण लिंकन की कल्पना की हुई थी, सीधे-सादे लिंकन को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उनमें से एक अपने आश्चर्य और नैराश्य को छुपा न सकी और बोली 'क्या यही गरीब प्रेजीडेन्ट लिंकन है?'' लिंकन ने यह बात सुन ली और बड़ी विनम्रता से कहा 'देवि! गरीब लोग परमात्मा के प्यारे होते हैं। इसी कारण संसार में गरीबों की संख्या अधिक है।''

वस्तुत: अमीरों की अपेक्षा गरीबों की उत्तरदायिता परमात्मा के प्रति बहुत कम होती है। गरीबी जीवन की एक अवस्था होती है जिसमें मनुष्य को परमात्मा के सामने अपने धैर्य, अपने परिश्रम, अपने सन्तोष और अपने उत्तम जीवन की परीक्षा देनी होती है।

होनहार नव युवकों के जीवन निर्माण में निर्धनता का योग प्राय: बहुत बड़ा होता है। यद्यपि निर्धनता कष्ट दायिनी होती है तथापि उन नवयुवकों को ऊंचा उठने की इससे बहुत प्रेरणा मिलती है। संसार के अधिकतर महापुरुषों के जीवन से यह बात भली भाँति प्रमाणित है। एक बार जब

एक अंग्रेज जज से यह प्रश्न किया गया कि वकालत के व्यवसाय में सबसे अधिक सफलता किसको मिलती है तो उसने उत्तर दिया। "कुछ वकील तो अपनी तीव्र बुद्धि से सफल होते हैं, कुछ अपने मित्रों के प्रभाव से, कुछ सौभाग्य से परन्तु अधिकांश बिना पैसे के अपना व्यवसाय आरम्भ करने से सफल होते हैं।" आत्म-विश्वास और अध्यवसाय के मार्ग में निर्धनता बाधक नहीं बनती। जो अपनी मदद करते हैं परमात्मा उनकी मदद करता है। इस चित्र का दूसरा पक्ष भी है। बहुत से होनहार व्यक्ति जिन्हें अभिभावकों की निर्धनता एवं राज्य की उपेक्षा के कारण विकास का अवसर नहीं मिलता यों ही मिट्टी में मिल जाते हैं। यदि उनका समुचित विकास हो जाय तो न जाने उनमें से कितने परमात्मा के प्यारे और देवदूतों के सखा बन जायँ।

जो व्यक्ति अपने उत्तम विचारों और निर्मल चरित्र से संसार में ज्ञान और सुख की वर्षा करते हैं वे प्रायः निर्धन होते या निर्धनता को स्वेच्छया अङ्गीकार करते हैं परन्तु वे अपने पीछे जो सम्पदा छोड़ते हैं उसकी तुलना में सोने चाँदी का ढेर और भौतिक वैभव नगण्य होता है। महान् लूथर को अपने निर्धन होने पर गर्व था। उसने एक बार परमात्मा को धन्यवाद देते हुए कहा था 'हे परमात्मा! मैं तेरा आभारी हूँ। तूने मुझे निर्धन बनाने की कृपा की है। मेरे पास छोड़ जाने के लिए न तो मकान है, न भूमि है और न धन है।" वे निर्धन और सदाचारी माता पिता धन्य हैं जो समाज के लिए सुयोग्य सन्तान छोड़ते हैं। उनके जीवन का विलास सन्तान-निर्माण होता है। अधिकांश में निर्धन माता पिता ही अपेक्षा कृत योग्य सन्तान छोड़ जाने के श्रेय के भागी होते हैं।

निर्धन होने का एक और महत्त्व पूर्ण लाभ होता है। निर्धन की प्रसन्नता पर किसी को डाह नहीं होती और न उसे चौकसी के लिए चौकीदार की ही आवश्यकता होती है। निर्धनता में उसे अधिक से अधिक स्वतन्त्रता होती है। वह जिस प्राकृतिक आनन्द का उपभोग करता

है वह कला और कृत्रिमता के द्वारा भी धनवान को प्रायः प्राप्त नहीं होता। निर्धनता अपने और पराए तथा सौजन्य की परीक्षा की कसौटी भी होती है।

निर्धनता दो प्रकार की होती है एक वास्तविक और दूसरी कृत्रिम। भूख, प्यास, शरीर रक्षा और लज्जा निवारण के लिए वस्त्र के अभाव से पीड़ित रहना वास्तविक निर्धनता होती है। विलास, लोभ और बनाव श्रृंगार से उत्पन्न निर्धनता कृत्रिम होती है। समाज में गरीब समझे जाने के अपमान की भावना और दिखावट की रक्षा के कारण निर्धनता अधिक दुःख और बर्बादी का कारण बन जाती है। इनसे बचने का सरल उपाय यह है कि मनुष्य अपनी स्थिति और थोड़े से सन्तुष्ट रहे और अपने व्यय को आय से अधिक न होने दे। इस सम्बन्ध में राज्य का उत्तर-दायित्व बहुत बड़ा होता है। जब राष्ट्र में भ्रष्टाचार और विलासिता फैल जाती है तब निर्धनता के प्रति अपमान की भावना उग्र हो जाती है। तभी धन का अनुचित आदर भी बढ़ जाता है। उस समय दो प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर से स्थिति बिल्कुल बदल जाती है। समाज में कुछ व्यक्ति अधिक अमीर क्यों है और अधिक गरीब क्यों है? इसका उत्तर है शोषण और धूर्तता। इस उत्तर के प्रकाश में गरीब लोगों को अपनी निर्धनता पर गर्व करना और अमीरों को लज्जित होना चाहिए। अन्याय के बल पर अमीर अमीर बनते और गरीब गरीबी में रखे जाते हैं। आवश्यकताओं के अमर्य्यादित रूप से बढ़ जाने से खर्च भी अमर्य्यादित रूप से बढ़ जाता है। भौतिक उन्नति के साथ-साथ नैतिक निर्धनता भी बढ़ जाती है। इसलिए कृत्रिम निर्धनता के अभिशापों से प्रजा की रक्षा के लिए आवश्यक है कि समाज और राज्य ठोस उपाय करे और उन्हें दृढ़ता पूर्वक क्रिया में लाए। कला और मनोरंजन को मर्यादा में रखकर समाज को अमर्यादित रूप से विलास प्रिय, आरामतलब और धनलोलुप बनने से रोका जाय। श्रम करने में समर्थ व्यक्तियों के आजीविकोपार्जन की सुविधाओं से वंचित हो जाने और आलस्य वश भरण पोषण के लिए दूसरों के ऊपर

भाररूप निर्भर रहने से विशेषतः पैसे के बुरी तरह बढ़ जाने खाद्य पदार्थों के कम होजाने और विलास के सामान की बाढ़ आजाने से भी कृत्रिम निर्धनता बढ़ जाती है। निर्धनता बुराई की जड़ मानी जाती है परन्तु कृत्रिम निर्धनता ही अधिक अपराधों के लिए जिम्मेवार सिद्ध होती है। निर्धनता जनित अपराधों से बचने का सरल उपाय यह है कि निर्धनता को बुराई न मानने की मनोवृत्ति बनाई जाय और अपनी दृष्टि में अपने को सम्मानित रखने का प्रयास किया जाय।

निर्धनता अपमान जनक भी समझी जाती है। परन्तु यह स्वतः अपमान जनक नहीं होती। यह दो प्रकार से अपमान जनक बनती है। एक तो आलस्य असंयम मूर्खता और अपरिमित व्यय से और दूसरे उसको दूर करने के उपाय न करने से। जो व्यक्ति वस्तुतः निर्धन होते और निर्धन ही देख पड़ते हैं उनके ऊँचा उठने की संभावना बहुत कम होती है। ऐसे व्यक्ति निर्धनता को भाग्य का विधान और कर्म का अनिवार्य फल समझ कर किं कर्त्तव्य विमूढ़ और निश्चेष्ट होकर बैठ जाते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होता है। भाग्य उन्हीं पर मुस्कराता है जो जीवन को एक खेल समझकर उसमें विजयी होने में अग्रसर रहते हैं। अतः पुरुषार्थ उद्योग और सत्प्रयत्नों के द्वारा निर्धनता और उसके अभिशाप अपमान से बचने के लिए मनुष्य को यत्न शील रहना चाहिए।

# विलासिता

स्वादिष्ट खाद्य और पेय पदार्थों का, सुन्दर और बढ़िया वस्त्रों का भव्यभवनों का, सजावट के सामान का, सौन्दर्य और आभा से युक्त व्यवस्थित उपवनों और वाटिकाओं का, शरीर को सुख पहुँचाने वाली आकर्षक और तेज़ चलने वाली सवारियों का, मूल्यवान् भोजों और मनोरंजनों का जीवन की योजना में स्थान होता है यदि इनसे मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में बाधा उपस्थित न होती हो। जब इन वस्तुओं का आवश्यकता और उपयोगिता की दृष्टि से प्रयोग न होकर केवल शौक की दृष्टि से प्रयोग होता है तो ये आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के विकास के लिए अभिशाप और जीवन पर भार बन जाते हैं। विवेक और सिद्धान्त, शिष्टता और मर्यादा पर विलासिता के हावी हो जाने और कृत्रिम भूख की उत्पत्ति और सन्तुष्टि का क्रम जारी होजाने पर नैसर्गिक, नैतिक और राज-नैतिक बुराई का द्वार खुल जाता है। रोम का एक राजा दिन में कई बार स्वादिष्ट पदार्थ खाता और पेट खाली करने के लिए उल्टी करता रहता था। एक रानी प्रतिदिन कई बार बहु मूल्य वस्त्र पहनती और एक बार पहना हुआ वस्त्र दो बारा न पहनती थी। रोम का नीरो स्वयं नगर में आग लगाकर प्रजा के चीत्कार पर प्रसन्न होकर वंशी बजाता था। लोग मनोरंजन के लिए हिंस्र पशुओं व मनुष्यों की कुश्ती कराते थे।

पतन का अनुपात विलासिता की आसक्ति के अनुपात में होता है। विलासिता से शरीर और मन का ह्रास होता है। इससे शरीर कोमल आराम तलब और चमकीला तो बनता है परन्तु मन कठोर और काला हो जाता है। मनुष्य के बाह्य चक्षु रूप की उपासना करते और आन्तरिक चक्षु धुंधले हो जाते हैं। विलास प्रिय व्यक्ति को प्रसन्न करना कठिन परन्तु तंग करना सुगम होता है। वह कठिन समय के प्रति प्रायः उदासीन

रहता और कठिन समय के उपस्थित हो जाने पर कि कर्त्तव्य विमूढ़ होकर हास्य का पात्र बन जाता है। उसकी दशा उस तितली के समान होती है जो प्रात:कालीन ओस कण पर सन्तुष्ट रहने की मूर्खता करती परन्तु ग्रीष्म-कालीन चिलचिलाती धूप के लिए उचित व्यवस्था नहीं करती।

नवयुवकों के लिए विलासिता तूफ़ानों, बेड़ियों और निर्धनता के अभिशापों से भी अधिक घातक होती है। छोटे-छोटे बच्चों को इसके बीज से और नवयुवकों को इसकी विषमिश्रित मीठी गोलियों से बचाना प्रत्येक अभिभावक और शासनका परम कर्त्तव्य होता है। छोटे-छोटे बच्चोंका विलासमय लालन-पालन और विलासिता जनित कुचेष्टाओं की उपेक्षा घातक होती है। नवयुवकों के आरामतलबी, फैशनपरस्ती, हुस्नपरस्ती, नशे-खोरी और उच्श्रृंखलता में ग्रस्त हो जाने से परिवार और समाज बहुत से होनहार और गुणवान नागरिकों से वंचित हो जाता है जिनमें ऊंचा उठने के तत्व विद्यमान होते परन्तु जो विलासिता से नष्ट हो जाते हैं। बाह्य रूप से संस्कृत और चमकीले व्यक्तियों के ही शीघ्र खराब हो जाने का भय होता है अत्यधिक चमकीलो स्टील पर ही जंग शीघ्र लगताहै।

अपनी गर्भावस्था में अयोध्या के राजप्रासादों के वैभव और विलास को छोड़कर कुछ समय के लिए वनाश्रमों में जाकर रहने की महारानी सीता की इच्छा क्यों हुई? आत्मिक सुख और आनन्द की अनभूति के लिए। वस्तुत: सीधी-सादी और सात्विक वस्तुओं में ही वास्तविक आनन्द की अनुभूति होती है विलासिता और मिथ्याभिमान को सन्तुष्ट करने वाले कृत्रिम मनोविनोद में नहीं। मनुष्य की प्रवृत्ति विलासिता से हटकर जितनी अधिक सात्त्विकता की ओर प्रेरित होती हैं उतनी ही अधिक उसमें निर्दोषिता आती है।

जीवन का दृष्टिकोण भौतिक बनने पर संस्कृति भोग प्रधान और आध्यात्मिक बनने पर संस्कृति त्याग-प्रधान बनती है। आज विश्व में विलासिता और भोगवाद का बोल बाला है इसीलिए संस्कृति भोग प्रधान

बन गई है जिसका पोषण सांसारिकता और स्वार्थपरता में हो रहा है और जिसका उपास्य देव भौतिक विज्ञान बना हुआ है इसीलिए अमर्या-दित भोगवाद ने इस संस्कृति को विनाश के पथ पर लाकर खड़ा कर दिया है। इसीलिए भौतिक सुख और उन्नति के चमकीले आवरण से अलंकृत धर्म निरपेक्ष शक्तिशाली राष्ट्रों के सामने जीवन मरण की समस्या उपस्थित हो गई है जिसे भौतिक साधनों से ज्यों-ज्यों सुलझाने की चेष्टा की जाती है त्यों-त्यों यह जटिल से जटिल तर और जटिलतर से जटिलतम बनती जाती है। इतिहास की यह चेतावनी उनके गले उतरती प्रतीत नहीं होती कि स्वार्थ परता, लोभ और विलासिता ने बड़े-बड़े राजाओं के राजमुकुट धूल में मिला दिए और विलासिता के कोमल गद्दों में अनेक व्यक्ति, अनेक घराने और अनेक राज्य सहज ही विलीन हो गए। जीवन का दृष्टिकोण आध्यात्मिक बनाने और त्याग प्रधान संस्कृति को अपनाने से विश्व का कल्याण संभव है जो भौतिक और आध्यात्मिक के सुसमन्वय में पालित पोषित होती और जिसका उपास्यदेव ईश्वर होता है। आज बड़े-बड़े राष्ट्र अपने जीवन-मरण की समस्या का हल करने का यत्न करते हुए इस सत्य को ठुकराते हैं इसलिए उनकी कठिनाईयाँ घटने के स्थान में बढ़ रहीं और विश्व में अशान्ति व्याप्त हो रही है।

अमर्यादित भोगवाद की वर्तमान संस्कृति को प्रोत्साहन देने का बीजा-रोपण युरोप को औद्योगिक क्रान्ति में हुआ। उद्योग पतियों ने विलासिता के माल की उत्पत्ति को लक्ष्य बनाकर उस माल से संसार के बाजारों को पाटा। बाजारों की प्राप्ति के लिए राजनैतिक सता पर अधिकार जमाया। तलवार के बल पर कमजोर जातियों को गुलाम बनाया और उन्हें सभ्य बनाने की आड़ में उनमें विलासिता का प्रचार करके बाजारों की प्राप्ति की। वर्तमान युद्धों का प्रधान लक्ष्य बाजारों की प्राप्ति और रक्षा ही है। राज-नैतिक प्रवंचना का इससे अधिक गर्हित और क्या प्रमाण हो सकता है?

विलासिता के सामान के उत्पादन के पक्ष में सबसे बड़ी युक्ति यह दी

जाती है कि इसपर व्यय होने वाले धन से गरीबों का हित होता है। उन्हें परिश्रम करने की प्रेरणा मिलती और रोटी मिलती है। परन्तु जब हम इस के कारण बढ़ती हुई बेकारी, निर्धनता, आलस्य, शारीरिक ह्रास और नैतिक पतन को देखते हैं तो यह दलील हमारे गले नहीं उतरती। कोई भी शिष्ट समाज स्त्रियों के शील और रूप को व्यापार की वस्तु बनने देना गवारा नहीं कर सकता परन्तु संस्कृति और शिष्टता के ठेकेदार पाश्चात्य और उसका अन्ध अनुकरण करने वाले समाज की नाक के नीचे यह सब कुछ हो रहा है। इसपर भी अपनी शिष्टता का दावा प्रस्तुत करने में उसे लज्जा अनुभव नहीं होती। यदि विलासिता के पतनकारी उत्पादन और भोगवाद की संस्कृति के रक्षण के लिए लड़े जाने वाले युद्धों पर व्यय होने वाला श्रम और धन लोगों के बौद्धिक नैतिक आर्थिक और धार्मिक सुधार पर व्यय हो तो विश्व में सर्वत्र आनन्द और शान्ति व्याप्त हो जाय ! संभव है कुछ समय के लिए भौतिक पदार्थों का उत्पादन कम हो जाय परन्तु इससे विशेष हानि न होगी। उद्योग धन्धों और वाणिज्य व्यवसाय की यह पतन कारिणी अवस्था विश्व को एक गंभीर चेतावनी दे रही है और वह यह कि अच्छा युग आने पर जन सामान्य इस प्रकार के कुत्सित और अशुद्ध मार्ग में प्रेरित उद्योग धन्धों और व्यवसाय पर आश्चर्य और घृणा प्रकट किए बिना न रहेंगे।

# शरीर

शरीर के गठन की सूक्ष्मता और विचित्रता का भेद जानना असम्भव है। इस भेद को साधारण व्यक्ति तो क्या शरीर शास्त्र के प्रकांड पंडित भी नहीं जान पाते। शरीर की सूक्ष्मता को देख और अपने ज्ञान की सीमा को अनुभव करके उन्हें अवाक् रह जाना पड़ता है। शरीर के गठन में उनको अलौकिक हाथों की कारीगरी के शुभ्र-दर्शन होते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं जो शरीर की सूक्ष्मता को पूर्णतया जानने का दर्पपूर्ण दावा कर बैठते हैं। इसे उनकी धृष्टता, कृतघ्नता और आत्म-प्रवंचना ही कह सकते हैं। आँखों का एक भी विशेषज्ञ उनकी रचना का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने में आजतक समर्थ नहीं हो सका, उनकी रचना करने की बात तो अलग रही। अतः यह मानने के लिए विवश हो जाना पड़ता है कि शरीर का निर्माण परमात्मा के द्वारा होता है।

शरीर मिट्टी होता और अन्त में मिट्टी में मिल जाता है। आत्मा के संयोग से ही इसमें चेतनता आती और रहती है। यद्यपि इसमें अपनी चेतनता नहीं होती और यह स्वर विहीन वीणा होती है तथापि यदि इस पर पवित्रता की तान छेड़ी जाय तो यह सीधी दिव्य-लोक में पहुँचती है। शरीर से पृथक् होने पर आत्मा के साथ केवल धर्म और अधर्म जाता है जो शरीर के माध्यम से आत्मा उपार्जित करता है। धर्माचरण से सुख और अधर्माचरण से दुःख मिलता है। इसलिए शरीर को इस प्रकार काम में लाना चाहिए जिससे धर्माचरण हो, और जीवन का सुख और यश बढ़े।

परमात्मा ने मानव शरीर को जो शक्ति, सम्मान और गौरव प्रदान किया है क्या उसकी तुलना में कोई पार्थिव शक्ति, और गौरव खड़ा रह सकता है? इसीलिए अपने शरीर को बल और यश से विभूषित कर एक विशिष्ट भेंट के रूप में परमात्मा के अर्पण रखने की शिक्षा दी जाती है।

इसके लिए शरीर को देव-मन्दिर बनाना और शरीर का शासन आत्मा के हाथ में होना आवश्यक होता है। जब शरीर के अवयव आत्मा के शासन में होते हैं तब वे परमात्मा की इच्छा की पूर्ति में संलग्न हो जाते वा हो सकते हैं और पतन की ओर ले जाने वाली प्रवृत्तियों, वासनाओं और दुर्गुणों का दुष्प्रभाव निष्क्रिय बनकर शरीर शैतान का घर बनने से बच जाता है।

आत्मा के स्वाभाविक गुण, ज्ञान और प्रयत्न होते हैं। उत्तम ज्ञान और उत्तम कर्म से आत्मा की पवित्रता की रक्षा होती है। कर्मों के उत्तम होने से शरीर के अवयव यशस्वी बनते हैं। यशस्वी होने के साथ-साथ शरीर के अवयवों का बलिष्ठ होना भी परमावश्यक होता है। तभी आत्मा का स्वास्थ कायम रहता है। तभी कहा जाता है कि स्वस्थ्य शरीर में स्वस्थ्य आत्मा निवास करता है। हमारा शरीर एक अच्छी चलती हुई घड़ी के समान होना चाहिए। यदि उसे उत्तम विचार, प्रफुल्लता, नियमित और सात्विक आहार-विहार, संयम, शुद्धि और परिश्रम के द्वारा ठीक न रखा जाय तो यह शरीर रूपी घड़ी बिगड़ जाती और समय के पूर्व अलार्म बज जाता है।

स्वस्थ और आकर्षक शरीर परमात्मा की एक विशिष्ट देन और सुन्दर कृति होती है।

यदि बलवान् शरीर दुर्बलों और निस्सहायों को सताने एवं समाज में आतंक फैलाने में प्रयुक्त हो तो शरीर का बल अभिशाप बन जाता है। सुडौल और मजबूत हाथों की शोभा इसी में है कि वे ग़रीबों कमजोरों और असहायों की रक्षा करें और गिरे हुओं को ऊपर उठाएँ। सुन्दर कानों की शोभा इसी में है कि वे गन्दी और निन्दा की बातें न सुनें। बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखों की छवि इसी में है कि वे पराई बहू बेटियों को बुरी दृष्टि से न देखें और दूसरे की समृद्धि को सहन करें। जीभ की शोभा और पवित्रता इसी में है कि उससे कड़े गन्दे, अशोभन और अहितकारी वचन न निकलें। बलवान् पैरों की शोभा इसी में है कि वे दूसरों को सताने के लिए न दौड़ें

वरन् दुखियों के दुःख को दूर करने के लिए न रुकें।

शरीर की बाहरी शोभा भीतर की शोभा से होती है। दुर्गुणों और दुष्ट व्यक्तियों से भरा हुआ शरीर और मकान समान होते हैं। इनकी अपेक्षा वह शरीर और मकान अच्छा होता है जो भीतर से उजला हो, भले ही बाहर से उजला न हो। बाहर से उजला और भीतर से काला शरीर उस जलाशय के समान होता है जिसका जल ऊपर से साफ होता है परन्तु जिसकी तह में कीचड़ भरी होती है।

उत्सर्ग, साधना, कर्त्तव्य परायणता, त्याग और तप में शरीर की शोभा उपयोगिता और कीर्ति निहित होती है। उत्सर्ग और साधना का उज्ज्वलतम रूप देखना हो तो माता की अपने बच्चे के प्रति आत्मा-विस्मृति में देखो। शरीर की साधना का महत्व जानना हो तो स्वामिभक्त नौकर और कर्त्तव्य परायण व्यक्तियों के मनोयोग में देखो। शरीर की पवित्रता का रहस्य जानना हो तो पतिव्रता स्त्री के तेज में देखो। शरीर की उपयोगिता के शुभ्रदर्शन करने हों तो निष्काम भाव से पर हित में निरत शरीर में देखो जिसे उच्चात्मा समाज की धरोहर समझता और जो वास्तव में समाज की बहुमूल्य सम्पदा होती है। सदाचारी, परोपकार रत और कर्त्तव्य परायण महापुरुषों के जीवन इसी प्रकार के होते हैं। परमपूज्या सीता ने रावण के बन्दीगृह में रहते हुए नाना प्रकार के कष्ट और अत्याचार सहन किए परन्तु अपने शरीर की पवित्रता नष्ट न होने दी यहाँ तक कि अपनी मुक्ति का अलभ्य अवसर प्राप्त होने पर भी उन्होंने महात्मा हनुमान की पीठ पर बैठकर समुद्र पार करके राम के पास जाना इसलिए स्वीकार न किया कि उनके शरीर का स्पर्श पर पुरुष के साथ होता था। इसी प्रकार जो धर्म के लिए, देश के लिए, जाति के लिए और उच्चादर्शों के लिए अपने जीवन और प्राणों का उत्सर्ग करते हैं वे अपने शरीर का सदुपयोग करके परमात्मा के प्यारों की पंक्ति में जा बैठते हैं। परमात्मा का कृपापात्र बनना शरीर की उच्चतम गति होती है। कौन अभागा जन होगा जो इस गति पर ईर्ष्या और उसकी प्राप्ति की कामना न करे?

## स्वास्थ्य

"तन्दुरुस्ती हजार न्यामत है" इस कहावत में बड़ा तथ्य है। अच्छा स्वास्थ्य परमात्मा की एक बड़ी देन होती है। स्वस्थ मनुष्य को इसके लिए परमात्मा का कृतज्ञ होना चाहिए। पवित्र अन्तरात्मा परमात्मा की पहली और अच्छा स्वास्थ्य दूसरी देन होती है। इसलिए स्वस्थ मनुष्य को ईश्वर की आज्ञा का पालन और उसकी सृष्टि में आनन्द व्याप्त करने में अपने स्वास्थ्य का सदुपयोग करना चाहिए। स्वास्थ्य' सुन्दरता, बुद्धि, विद्या, बल और धन ये सब जीवन के वरदान होते हैं। उच्च भावनाओं और उच्चादर्शों से प्रेरित रहने पर ही इनका गौरव कायम रहता और दुष्टों, मूर्खों एवम् अन्यायियों के हाथ में पड़ जाने से ये अभिशाप बन जाते हैं।

स्वस्थ आत्मा और स्वस्थ शरीर इन शब्दों में कितनी आनन्द दायिनी स्फूर्ति और अनुभूति है! स्वस्थ आत्मा स्वस्थ शरीर का गौरव और स्वस्थ शरीर स्वस्थ आत्मा का आभूषण होता है। हृदय की शान्ति आत्मा की स्वस्थता का प्रधान लक्षण होता है। बलिष्ट आत्मा और बलिष्ठ शरीर श्रेष्ठतम चरित्र के विकास के आधार स्तम्भ होते हैं। जीवन की प्रसन्नता के लिए शरीर को स्वस्थता की अपेक्षा आत्मा की स्वस्थता का महत्त्व अधिक होता है।

स्वास्थ्य से जीवन के कर्त्तव्य कर्मों का अनुष्ठान भली भाँति होता और जीवन का वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है। इसीलिए स्वास्थ्य समस्त आनन्दों की आत्मा माना जाता है। मनुष्य के जीवन पर समाज का अधिकार होता है। अतः स्वास्थ्य की रक्षा करना मनुष्य का सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य होता है। अस्वस्थता की अवस्था में मनुष्य न तो अपने लिए उपयोगी होता है और न दूसरों के लिए। रोगी व्यक्ति का जीवन

न केवल अपने पर ही अपितु दूसरों पर भी भार होता है। आत्म-सम्मान और सामाजिक यश की भावना से परिपूर्ण किसी भी समझदार व्यक्ति के लिए यह स्थिति सह्य नहीं हो सकती। इस स्थिति से बचने का एक मात्र उपाय है स्वास्थ्य की रक्षा करना।

धन की अपेक्षा स्वास्थ्य का महत्त्व अधिक होता है। स्वास्थ्य से धन कमाया जा सकता है परन्तु धन से स्वास्थ्य खरीदा नहीं जा सकता। इसलिए स्वास्थ्य के बलिदान पर धन कमाना और खर्च करना हानिकर है। निर्धन की भाँति परिश्रम और संयम पूर्वक जीवन व्यतीत करना धनवान के लिए स्वस्थ रहने का एक मात्र उपाय है। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति निर्धनता से दूर भागना चाहता है फिर भी धनवान् व्यक्ति का अस्वस्थता और बीमारी के चक्र में फंसजाना बड़ा दुर्भाग्य पूर्ण होता है।

जिन व्यक्तियों को खाने-पीने की सुविधा और स्वतन्त्रता होती है उन्हें प्रायः मन्दाग्नि अपच और अस्वस्थता की शिकायत रहती है और वे ही मुख्यतया हकीमों, वैद्यों और डाक्टरों की संख्या वृद्धि का कारण होते हैं। यदि ये अपने शरीर को ठीक रखने और स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने में उस समय और मनो योग का थोड़ा सा अंश भी लगादें जो वे कृत्रिम भूख, वेष भूषा और विलासिता के अर्पण करते हैं तो निस्संदेह उनका परम उपकार हो और चिकित्सकों की संख्या वृद्धि रुक जाय। नगरों और सम्पन्न घरों में ग्रामीणों जैसे गठे हुए, मजबूत सुडौल और सुन्दर शरीरों और खिले हुए चेहरों के दर्शन बहुत कम होते हैं क्योंकि नगरों के निवासी और सम्पन्न घरों के व्यक्ति प्रकृति के प्रसादों से प्रायः वंचित रहते और ग्रामीण जन उनका आनन्द उठाते हैं। ग्रामीण जन सीधा सादा परिश्रममय जीवन व्यतीत करते हैं जहाँ प्रकृति उनका पाचक और आवश्यकता उनका भंडारी होता है। जहाँ शुद्ध वायु और सूर्य उनका एक मात्र चिकित्सक होता है। शरीर विज्ञान के पण्डितों की यह मान्यता है कि स्वास्थ्य के नियमों का कड़ाई के साथ पालन करने से भयंकरतम रोगों

में कमी हो जाती है और परमात्मा के दिए हुए इस शरीर के धीरे-धीरे जीर्ण हो जाने पर मृत्यु में मीठी नींद का अनुभव होता है।

दिमाग से आवश्यकता से अधिक काम लेने और शरीर की उपेक्षा करने से भी बहुत से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। आजकल के अधिकांश रोगों का प्रधान कारण यही उपेक्षा है। इस यन्त्र युग में श्रम और बुद्धि की घिसाई पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया जाता और शरीर के प्रति उपेक्षा ने आत्म निर्दयता का रूप ले लिया है। आश्चर्य यह है कि आज का मनुष्य अपने को अपने पुरुषाओं की अपेक्षा अधिक सभ्य अधिक परिश्रमी अधिक साधन सम्पन्न, अधिक बुद्धि जीवी और अधिक साफ सुथरा समझता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस युग में मनुष्य का बहिरंग अधिक आकर्षक बन गया है। सार्वजनिक स्वास्थ्य की व्यवस्था में भी यद्यपि सुधार हो रहा है फिर भी वह जीवन संघर्ष में बुरी तरह पिस रहा है। उसकी चिन्ताएं बढ़ गई हैं और उसकी धमनियों का रस सूख गया है।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए शुद्ध वायु, शुद्ध जल, पर्याप्त प्रकाश, सात्विक और पौष्टिक भोजन ऋतुओं के अनुकूल वस्त्र नियमित आहार-विहार, उचित व्यायाम, आराम, नींद, संयम और नियम बद्ध जीवन आवश्यक होता है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए हृदय की प्रफुल्लता आवश्यक होती है। हृदय को उच्च भावनाओं से ओत-प्रोत करने और अच्छे कर्म करने से इस प्रफुल्लता की उत्पत्ति और रक्षा होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना चिकित्सिक स्वयं बनना चाहिए। प्रकृति को विवश करने की अपेक्षा उसके कार्य में सहायता देनी चाहिए। जिस पदार्थ को मनुष्य पचा सकता हो वही खाना चाहिए। पाचन शक्ति की औषधि व्यायाम बल वृद्धि का उपाय नींद और असाध्य रोगो की औषधि धैर्य होता है। ब्रह्मचर्य, संयम, शुद्ध वायु, शक्त्यनुसार परिश्रम और निश्चिन्तता स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन की कुंजी होती हैं। प्रसन्नता, संयम, आराम और अच्छी नींद चिकित्सकों को अपने घर से बाहर रखने का बड़ा प्रभाव शाली उपाय होता है।

जाति के बच्चों के स्वास्थ्य के लिए स्त्रियों के स्वास्थ्य की अपेक्षा शायद ही अन्य कोई वस्तु अनिवार्य हो। कहावत है कि यदि माता बलिष्ठ होगी तो बेटा लोगों का नेतृत्व करेगा। जाति के समस्त बच्चों के स्वस्थ और बलिष्ठ होने के लिए उनकी माताओं का स्वस्थ होना अत्यावश्यक होता है परन्तु साथ ही पिताओं का भी बलिष्ठ और स्वस्थ होना अनिवार्य होता है।

# हृदय

अच्छा और विशाल हृदय बड़ा मूल्यवान् होता है। विशाल हृदय को विशाल हृदय ही पहचानता है। जिस प्रकार स्वर्ण का खोटा और खरापन आग में तपने पर जाना जाता है उसी प्रकार त्याग और तप, कष्ट और कठिनाई की भट्टी में से गुजरने पर हृदय की परख होती और उसमें चमक आती है। अच्छे हृदय पर विश्व की विभूतियाँ लोटतीं सौभाग्य मुस्कराता और विश्व आनन्द मनाता है।

परमात्मा का निवास स्थान मनुष्य का हृदय होता और यहीं पर परमात्मा का साक्षात्कार होता है। शुद्ध और पवित्र हृदय परमात्मा कीज्योति से जाज्वल्यमान् होकर और दिव्यता धारण करके परमात्मा का दर्शन करने में समर्थ हो जाता है। हृदय की पवित्रता के प्रकाश से मानव का मार्ग स्वच्छ होता और अन्धकार में छुपी हुई अनेक अस्पष्ट वस्तुएँ साफ देख पड़ने लग जाती हैं। इस पवित्रता के आलोक से आलोकित स्फटिक के समान निर्मल हृदय में आगे होने वाली घटनाओं का आभास होने लग जाता है और दिव्य सचाइयों की अनुभूति होते रहने से हृदय भविष्य वक्ता का रूप ग्रहण कर लेता है।

अच्छे और विशाल हृदय रखने वाले व्यक्ति समाज के आभूषण होते हैं। वे व्यक्ति बड़े सौभाग्यवान् होते हैं जिन्हें निर्मल हृदय प्राप्त होते और विशाल हृदय रखने वालों के सम्पर्क का लाभ उठाते हैं। दया से परिपूर्ण हृदय आल्हाद का स्रोत होता और उसके सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु नवजीवन से ओत-प्रोत होकर हँसने लग जाती है। चेहरे की मुस्कराहट हृदय की मुस्कराहट से प्रवाहित होती है। हँसता हुआ हृदय मुर्झाए हुए हृदयों को खिलाता और आनन्द की वर्षा करता है। दया, दाक्षिण्य और उदारता से भरे हुए हृदय में अपने पराये के भेद

भाव के लिए स्थान नहीं होता। उसमें अपनों से ममता और दूसरों से विरक्ति नहीं होती। उसके लिए समस्त विश्व कुटुम्ब वत् होता और उसे दूसरों की सहानुभूति विश्वास और सहायता प्राप्त रहती है। फलतः उसकी उन्नति का मार्ग परिष्कृत रहता है। जिस प्रकार अच्छे चेहरे वाले व्यक्ति को किसी विशेष प्रकार के सिफ़ारशी पत्र की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार अच्छे हृदय वाले व्यक्ति को विश्वास के प्रमाण पत्र की आवश्यक्ता नहीं होती। जिस व्यक्ति का हृदय उच्च हो, जो लोगों के विश्वास और सहानुभूति का पात्र हो जिसका हृदय और मस्तिष्क दोनों उज्जवल हों जिसकी बातें और कर्म हृदय की पवित्रता के रंग में रंगे हों वह निश्चय ही अपनी अन्तरात्मा, परमात्मा और समाज के प्राणियों के आशीर्वाद का पात्र बनकर अमित सुख और अक्षय आनन्द का लाभ उठाने में समर्थ रहता है।

बुद्धि की प्रखरता और सूक्ष्मता की शोभा हृदय की सरलता पर निर्भर होती है। यदि मनुष्य का दिमाग और बुद्धि ठीक हों और हृदय ठीक न हो तो इन दोनों का ठीक होना प्रायः व्यर्थ होता है। आज के बुद्धि जीवी मानव ने अपनी बुद्धि की प्रखरता और सूक्ष्मता से प्रकृति पर तो चामत्कारिक विजय प्राप्त की। प्रकृति के गूढ़तम रहस्यों का पता लगाने में कमाल कर दिखाया परन्तु अपने को प्रायः भूल गया और उसके हृदय का रस सूख गया। क्यों? जीवन का दृष्टि कोण आध्यात्मिकता से हटकर भौतिक बन जाने के कारण। वह भूल गया कि बुद्धि की अपेक्षा मानव का हृदय अधिक मार्ग दर्शक होता है। जहाँ बुद्धि की सीमा समाप्त हो जाती है वहाँ हृदय की अनुभूति अपना काम करती और मनुष्य को रास्ता दिखाती है। बुद्धि सोचती और हृदय अनुभव करता है। इसलिए हृदय की अनुभूति व्यावहारिक होने के कारण अधिक वास्तविक होती और उसकी अपेक्षा प्रबल प्रेरणाओं से युक्त होती है। हृदय के तर्क को हृदय ही समझ पाता है। हृदय के जीत लिए जाने पर बुद्धि भी प्रायः सन्तुष्ट हो जाया

करती है। हृदय की पवित्र आवाज को सुनने और तदनुकूल आचरण करने से ही सत्य प्रतिष्ठित होता और मनुष्य द्वारा उपार्जित ज्ञान-विज्ञान का गौरव स्थिर रहता है। संसार में व्याप्त आनन्द और शान्ति का उद्‌गम स्थान मनुष्य का श्रेष्ठ हृदय होता है।

हृदय के खराब और पतित होजाने पर वह उत्तरोत्तर खराब और पतित होता रहता है। मानवता के स्पर्श से ही वह सुधार की ओर अग्रसर होता है। हमारा हृदय सूर्यमुखी के फूल के समान होना चाहिए जिसकी दृष्टि निरन्तर सूर्य पर केन्द्रित रहती और जो उसके प्रसादों से लाभान्वित रहता है। हमारे हृदय के लक्ष्य में परमात्मा होना चाहिए जिसपर केन्द्रित रहकर वह उसके प्रसादों से लाभ उठाता रहे। हमारा हृदय सूर्य के समान विशाल, तेजमय और लोक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत रहना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य, अच्छे बुरे, छोटे-बड़े, गरीब अमीर सबको अपनी रोशनी और गर्मी से लाभ पहुँचाता है उसी प्रकार हमारे हृदय में प्राणीमात्र के लिए प्रेम और शुभ भावनाएँ होनी चाहिएँ। सूर्य का वास्तविकस्वरूप उदय और अस्त के समय जब वह बहुत नीचे पर होता है देखा जाता है। उच्च हृदय का वास्तविक स्वरूप भी उसकी विनम्रता में देखा जाता है। इसीलिए पंडित और साधु की वास्तविक पहचान की कसौटी उसके हृदय की विनम्रता और सरलता होती है।

स्मृति, कल्पना, विनोद वृत्ति, और चपलता बुढ़ापे में जवान नहीं बन सकते परन्तु हृदय जवान बन सकता है। इससे स्पष्ट है कि हृदय आयु के प्रभाव के वशीभूत नहीं होता।

भावना और हृदय के पुट से शून्य होने से विविध राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक प्रोग्राम असफल हो जाया करते हैं। इन सब में योजना की अपेक्षा भावना सर्वोपरि होती है। क्योंकि प्रोग्राम बदलता रहता है, योजनाएँ परिवर्तित होती रहती हैं परन्तु भावना कायम रहती है। योजना में से भावना के निकल जाने पर वह आत्मा रहित शरीर

के समान निर्जीव रह जाती है। आज की अधिकांश योजनाओं की जटिलता और असफलता का मुख्य कारण यही है।

कमी और धन दोनों से हृदय कठोर बनता है। हृदय की वास्तविक परीक्षा की सर्वोपरि कसौटी ये दो अवस्थाएँ होती हैं। यदि हमारा हृदय दूसरों की सुख समृद्धि को सहन करता है और समृद्धि में हम बाहर से फैलकर भीतर से तंग नहीं बनते हैं तो निश्चय ही हम कमी और समृद्धि के परीक्षण में से सफल निकलने के यश के भागी होते हैं।

# मन

मन जड़ होता है। आत्मा के सम्पर्क से इसमें चेतनता आती है। जिस प्रकार जड़ चन्द्रमा में अपना प्रकाश नहीं होता वह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है इसी प्रकार जड़ मन आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होता है। मन पर आत्मा का अच्छा प्रकाश पड़ने के लिए आत्मा का अच्छा होना आवश्यक है। यदि आत्मा अच्छा और पवित्र होगा तो मन पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा, यदि आत्मा बुरा और गन्दा होगा तो मन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। आत्मा के विशाल और संकुचित होने के अनुपात में ही मन विशाल और संकुचित होता है।

मन ऊसर भूमि के समान बंजर होता है। उत्तम शिक्षण और उत्तम संस्कारों के द्वारा ही वह अच्छा और उपयोगी बनता है। भूमि को चिरकाल तक बंजर छोड़ देने से उसमें घास फूस काँटे और झाड़ उग आते हैं जिनसे न तो भूमि की शोभा होती है और न वह उपयोगी बनती है। इसी भाँति मन के संस्कृत और विकसित न होने से वह अज्ञान, अन्ध-विश्वास, दुर्भावना और ईर्ष्या आदि विकारों से भरकर अशोभन बन जाता है। उत्तम ग्रन्थों के स्वाध्याय, सत्पुरुषों के सङ्ग, अनुभव, चिन्तन, मनन और सत्याचरण से मन विकसित और शोभा युक्त होता है। सत्याचरण के द्वारा मनुष्य के मन के धब्बे स्पष्ट होकर उसकी स्वच्छता उसी प्रकार प्रमाणित हो जाती है जिस प्रकार स्वच्छ जलाशय की तली में देख पड़ने वाली कीचड़ से उसके जल की शुद्धता प्रमाणित होती है। ज्ञान से बुद्धि, तप से आत्मा, सत्य से मन और जल से शरीर की शुद्धि हो जाने और मन के आत्मा के वशीभूत हो जाने पर इसमें असाधारण बल प्रफुल्लता और निर्भयता का संचार हो जाता है। इस शक्ति वा बल के कारण मनुष्य घोर आपत्तियों, प्रलोभनों और विकारों की आँधी में अडिग रहता और विकट परिस्थितियों में भी

अपनी बुद्धि का स्वतन्त्र प्रयोग करता है। मन की यह अवस्था उच्च होती है। खतरों में अविचलित, आसक्तियों में निर्लेप, आपत्तियों में अडिग, अशान्ति में धीर, भय और प्रलोभनों में प्रसन्न और शान्त रहने वाले व्यक्ति देव स्वरूप होते हैं जिनके देवत्व से नश्वर देह प्रभावित और प्रकाशित रहती है।

वास्तविक सुख और शान्ति मन की एकाग्रता में निहित होती है। कल्पना करो आप के सामने नाना प्रकार के व्यञ्जनों से परिपूर्ण थाल रखा हुआ है। आप खाना ही चाहते है। उसी क्षण आप के किसी बन्धु या प्रियजन की बीमारी या मृत्यु का समाचार आ जाता है। उस समाचार को सुनकर आप एक दम खाना छोड़कर उठ जाते हैं। क्यों? इसलिए कि उस समाचार से आप के मन की एकाग्रता नष्ट हो गई।

बन गमन की आज्ञा प्राप्त होने पर मन की एकाग्रता का जैसा उदाहरण महात्मा राम के जीवन में मिलता है वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। यदि उस समय राम मन की शान्ति का उत्कृष्ट परिचय न देते तो रामायण की कथा का शायद और ही रूप होता।

आज संसार में सर्वत्र युद्ध की चर्चा और भय उपस्थित है। लोग शान्ति की रट लगा रहे हैं। विश्व के महान् राजनैतिक नेता युद्ध क्षेत्र में शान्ति का निर्णय करना चाहते हैं। शीत युद्ध चल रहा है। शीत युद्ध क्या है? यह है मनों के भीतर होने वाले युद्धों का स्थूल स्वरूप। अतः युद्ध और उसकी विभीषिका के रुकने का एकमात्र उपाय है मन के भीतर के युद्ध का रुकना। अर्थात् मनो विकारों के भयंकर खेल का अन्त होना। आनन्द यह है कि यह युद्ध संसार के सभ्यतम व्यक्तियों के मनों में हो रहा है जिनके हाथों में संसार का भाग्य सूत्र है और जो अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धतियों की रक्षा के जोश में भौतिक आभा और सुखों से परिपूर्ण संस्कृति को तलवार के बल पर कायम रखना चाहते हैं। वे इस सत्य को भूल जाते हैं कि भौतिकता का उत्कर्ष नश्वर होता है। समय बड़े-बड़े विशाल प्रसादों, मन्दिरों, बड़ी-बड़ी चित्रकारियों,

पच्चीकारियों और प्राकृतिक चमत्कारों को बात-की-बात में धूल में मिला देता है। वे यह भी भूल जाते हैं कि बड़े-बड़े बलवान् दिमाग़ों के निर्माण में ही संस्कृति की शोभा और स्थिरता कायम रहती है। मन को उत्तम संस्कारों से परिपूर्ण करना उन शिलाओं पर खुदाई करने के समान है जिन्हें समय नहीं मिटा सकता। ऐसे ही उत्तम और अमिट संस्कारों से परिपूर्ण मनों से भावी सन्तान प्रकाश और प्रेरणा ग्रहण करती और अपने मनों को उत्तम बनाती हैं। आज की मुख्यतम समस्या व्यक्तित्व के निर्माण और मनः शुद्धि की है। जिन संस्कृतियों ने सांसारिक वैभव और सुख के मुकाबले में त्याग भाव और चरित्र को प्रधानता दी वे ही आज जीवित हैं। यदि मनुष्य का ज्ञान-विज्ञान, पांडित्य, कला-कौशल और शोभा-प्रवृति मन को दास बनाने वाली हों और उनसे मनुष्य की प्रसन्नता नष्ट होती हो तो उनका क्या लाभ ? धर्म के साँचे में ढलने पर ही मन में दृढ़ता और लचकीलापन आता है। इस सत्य से विमुख हो जाने से ही आज की भौतिक संस्कृति को विनाश का भय उपस्थित हो गया है और ऐसी संस्कृति यदि शीघ्र या देर में नष्ट हो जाय तो यह आश्चर्य की बात न होगी।

मन का खाली रहना बुरा है। खाली मन पर विकारों और दुर्भावनाओं का सहज ही आक्रमण हो जाता है। अतः मन को बुरे विचारों से अप्रभावित रखने का सरल उपाय यह है कि मनुष्य निठल्ला न बैठे और किसी उपयोगी कार्य में मन लगा रहे परन्तु इतना अधिक भी न लगे जिससे शरीर क्षीण हो जाय। तेज और क्रिया शील मस्तिष्क वालों को तो इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखना चाहिए क्योंकि प्रायः ऐसे व्यक्ति शरीर का बहुत कम ध्यान रखते हैं। मन को आराम देने और उसमें ताज़गी लाने के लिए उसका किसी निर्दोष मनोरंजन या हल्के उपयोगी काम में लगना परमावश्यक होता है।

कहा जाता है मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होता है। मनुष्य अपने मन के कारण ही धनी-निर्धन, मूर्ख-पंडित, सुखी-दुखी बनता है;

इसी से स्वर्ग और नरक की सृष्टि होती और स्वर्ग-नरक एवं नरक-स्वर्ग बनता है।

उच्च मन के विकास और प्रसार के लिए एकान्त प्रियता भी आवश्यक होती है। अत्यधिक मानवी सम्पर्क से बहुत से अच्छे तत्व नष्ट हो जाते हैं और शोर तथा कुतर्क से उपराम रहने के गुणों का भी ह्रास हो जाता है। संसार पर विचार ही शासन करते हैं अतः विचारों की श्रेष्ठता और परिपक्वता के लिए चिन्तन, मनन और अध्ययन की आवश्यकता होती है और इसके लिए एकान्त प्रियता आवश्यक है। जिन लोगों का लोगों के मनों पर शासन होता है उनके अपने मन बहुत विशाल, पवित्र और विकारों के प्रभाव से ऊपर होते हैं। अतः संसार का हित इसी में है कि उसपर उत्तम विचारों का आधिपत्य रहे और उन व्यक्तियों का हृदयों पर शासन रहे जिनके भीतर दिव्यात्माएँ निवास करती हों और जो दिव्य लोक से आतीं एवं संसार में सुख और शान्ति की गंगा बहाकर दिव्य लोक को लौट जाती हैं।

———

# बुद्धि

मनुष्य को पशु से प्रथक् करने वाली वस्तु बुद्धि होती है। बुद्धि हीन मनुष्य पशु तुल्य होता है। बुद्धि वह ज्योति होती है जिससे मनुष्य का आभ्यन्तर प्रकाशित होता है। तभी तो बुद्धि को हृदय की आँखें कहा जाता है। आँखों से काम लेने के लिये सूर्य के प्रकाश की और हृदय की आँखों से काम लेने के लिये आत्मा के प्रकाश की आवश्यकता होती है। सूर्य और आत्मा के प्रकाश के बिना ये दोनों आँखें व्यर्थ होती हैं। जब बुद्धि आत्मा पर केन्द्रित रहती है तभी वह आत्मिक ज्योति से प्रकाशित रहती और उसका यथेष्ट विकास होता है। जब बुद्धि का लक्ष्य आत्मा न रहकर शरीर बन जाता है तब आत्मा बुद्धि का स्वामी न रहकर उसका दास बन जाता है। मन और इन्द्रियों के वशीभूत हो जाने पर बुद्धि दूषित हो जाया करती है।

बुद्धि का कार्य कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, सत्य और असत्य, पाप और पुण्य का निश्चय करना होता है। बुद्धि का विकास आत्म-ज्ञान से होता है। शुद्ध और विकसित बुद्धि द्वारा प्राप्त किए ज्ञान की हृदय पर अमिट छाप पड़ती है। जब बुद्धि का विकास और सुधार अपने ज्ञान की वृद्धि और दूसरों को उस ज्ञान से लाभान्वित करने के उद्देश्य से किया जाता है तब वह विकास कल्याण प्रद होता है। कहा जाता है कि ज्ञान बल होता है परन्तु वह ज्ञान अपने और दूसरों के लिए हितकारी हो। शेर बड़ा बलवान होता है परन्तु उसके बलका प्रयोग दूसरों को आतंकित करने और अपना शिकार मारने में होता है। जंगल के इस नियम को मानव समाज में प्रश्रय न मिलना चाहिए। मानवीय बुद्धि और ज्ञान का उपयोग मानव समाज के हित में होना चाहिए।

उसके विनाश और उसको आतंकित करने में नहीं। सत् ज्ञान एवं हृदय की प्रेरणाओं के अनुकूल आचरण करने से बुद्धि की शोभा सुरक्षित रहती है।

प्रखर बुद्धि वाले व्यक्ति धर्म का अवलम्बन किए बिना भी उन्नति कर सकते हैं परन्तु उनकी उन्नति स्थिर और शान्ति दायिनी नहीं होती। आज के भौतिक विज्ञान के विकास और चमत्कारों में बुद्धि की अभूतपूर्व प्रखरता देख पड़ती है जिसपर अनायास ही मुँह से "धन्य" शब्द निकल पड़ता है परन्तु वह विकास विश्व में शान्ति स्थिर रखने के स्थान में उसके लिए खतरा बन गया है। क्यों? इसलिये कि यह उन्नति साधन बनने के स्थान में साध्य बन गई है और मनुष्य का लक्ष्य स्वार्थ सिद्धि और शक्ति संचय बनकर विशाल मानवता से हट गया है। मनुष्य ने अपनी बुद्धि के बल पर वाह्य जगत को जानने में तो कमाल कर दिखाया है परन्तु अपने आपको भूल गया है। यदि वह प्रकृति पर अधिकार करने के साथ-साथ अपने को जानने पर भी समान ध्यान देता तो विज्ञान की उन्नति विश्व के लिये देन सिद्ध होती।

बुद्धि का प्रयोग अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हो सकता है परन्तु जब मनुष्य बुराई को भलाई समझ कर उसका प्रयोग करता है तब स्थिति बड़ी भयंकर बन जाती और उसके परिणाम बड़े दुःखद होते हैं। आज का विज्ञान वेत्ता जिसकी बुद्धि और ज्ञान का घातक सैनिक अस्त्रों की उत्पत्ति में दुरुपयोग हो रहा है, अपने राष्ट्र की सेवा करने का सन्तोष भले ही अनुभव करें, परन्तु वह शीघ्र ही विस्मृति के गहरे गड्ढे में विलीन हो जाने की अवस्था उत्पन्न कर रहा है क्योंकि संसार विशाल मानवता के हित में प्रयुक्त बुद्धि और बुद्धि जीवीका ही आदर करता और मानवता का अपमान वा उसका अहित करने वाले बुद्धि जीवी को शीघ्र ही भूल जाता है। संसार उन बुद्धि जीवी, चरित्र वान महापुरुषों का कितना कृतज्ञ है जो अपनी सुविकसित बुद्धि के द्वारा संसार को प्रकाशित और लाभान्वित करते हैं। उनकी बुद्धि का सदुपयोग

प्रकाश स्तम्भ के उन दीपकों के समान होता है जो समुद्र तट से बहुत दूर के यात्रियों को प्रकाश देकर उनको रास्ता दिखाते हैं ।

बुद्धि की गणना मनुष्य को चमकाने वाले गुणों में की जाती है । धर्म और शुभ कर्म में प्रेरित होने पर ही बुद्धि चमकती है । संसार में सत्य, सौन्दर्य और कल्याण की जो ज्योति देख पड़ती है वह सब धर्म और कर्त्तव्य मार्ग में प्रेरित बुद्धि का ही चमत्कार है । यही कारण है कि बुद्धि को कल्याण मार्ग पर आरूढ़ रखने के लिये बार-बार परमात्मा से प्रार्थना की जाती है । बुद्धि को बुरे काम में लगाने और उस काम को बार-बार करने से मनुष्य पाप—पथ पर अग्रसर हो जाता और अच्छे काम में लगाने से पुण्य और यश का संचय करता है ।

बुद्धि की सबसे बड़ी कमी यह है कि उसमें सहज प्रेरणा नहीं होती । सहज प्रेरणा का कार्य अन्तः प्रेरणा के द्वारा होता है । जब बुद्धि अन्तः प्रेरणा के अनुकूल काम करने लगती है तब मनुष्य का कल्याण सुनिश्चित हो जाता है । यदि नैपोलियन बोना पार्ट का हृदय उसकी बुद्धि की प्रखरता का साथ देता तो उसकी गणना संसार के महापुरुषों में होती ।

मनुष्य में यह एक व्यापक कमजोरी होती है कि वह अपने भाग्य से कभी सन्तुष्ट नहीं होता और अपनी समझ से कभी असन्तुष्ट नहीं होता । इस त्रुटि का सुधार उच्च आध्यात्मिक भावनाओं को हृदय में बिठाने और परमात्मा की शरण ग्रहण करने से होता है जिस की मूक प्रेरणा मनुष्य की बुद्धि को सदैव शुभ मार्ग में प्रेरित रखनेवाली होती है और जो मनुष्य पर सत्पुरुषों के आचरण और सत परामर्शों के द्वारा व्यक्त होती है । ये प्रेरणाएँ ही हैं जो मनुष्य को विनम्र बनातीं उसके अभिमान पर पर्दा डालतीं और उसे वास्तविक अर्थ में मनुष्य बनाती हैं ।

# आत्मा

तीन सत्ताएँ अनादि हैं। जिनमें से एक आत्मा है। अन्य दो सत्ताएँ ईश्वर और प्रकृति हैं। जब मनुष्य मर जाता है तो उसके शरीर के अवयव यथा नेत्र, कान, नाक, हाथ, पैर आदि सबके रहते हुए भी उनमें क्रिया नहीं रहती। इससे स्पष्ट है कि जो वस्तु सोचती है, अनुभव करती है, समझती है, कार्य करती है वह निश्चय ही चेतन और अपार्थिव होनी चाहिए। यही सत्ता 'आत्मा' कहलाती है। मनुष्य की बुद्धि और आँखों का आभास उसके माथे से, हृदय का आभास उसकी मुख मुद्रा से और आत्मा का आभास उसकी वाणी से हुआ करता है।

आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप शुद्ध, पवित्र, अलौकिक और दिव्य होता है। उसकी परमगति धर्माचरण और ईश्वर का साक्षात्कार करना होता है। आत्मा के स्वाभाविक गुण, ज्ञान और प्रयत्न हैं। इन गुणों का प्रकाश शरीर धारण करने से होता है, जो इन्द्रियों का समुच्चय होता है। शरीर की विशिष्टता आत्मा को इन्द्रियों की दासता से ऊपर रखकर उनको साधन रूप में प्रयुक्त करके आत्मा के शुद्धस्वरुप को बनाए रखने में निहित होती है। जो व्यक्ति इस सत्य को अपने हृदय में बिठा लेते हैं वे संसार की नाशवान् वस्तुओं से अनुचित मोह जोड़कर अपनी आत्मा को गन्दा नहीं बनाते। संसार की प्रत्येक वस्तु नाशवान् है, उनसे प्राप्त सुख और आनन्द भी नाशवान् होता है फिर नाशवान् वस्तुओं की आसक्ति में आत्मिक शान्ति क्यों कर मिल सकती है? आत्मा यद्यपि शरीर में निवास करता है तथापि यदि आत्मा की स्वाभाविक बुराइयाँ 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि' धुलती रहें, और आत्मा दिव्य विचारों, क्रियाओं और साधनाओं में निमग्न रहे तो वह आत्मा शरीर में नहीं अपितु दिव्य लोक में निवास करता है।

आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र और फल भोगने में परतन्त्र होता है। कर्मों का फल दाता ईश्वर होता है। इन दोनों की उपमा एक ही वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षियों के साथ दी जाती है। एक फल खाता है और दूसरा साक्षी रहता है। फल खाने वाला पक्षी आत्मा और साक्षी रहने वाला पक्षी ईश्वर होता है। इन दोनों में बहुत समीपता है, परन्तु समानान्तर रेखा की तरह ईश्वर के समीप रहते हुए भी आत्मा उसका स्पर्श नहीं कर पाता, क्या परमात्मा के सानिध्य में रहने के विचार के अतिरिक्त अन्य कोई विचार अधिक आनन्द प्रद हो सकता है? जो पूर्णता का प्रतीक और अक्षय आनन्द का भांडार है। परमात्मा में तो दिव्यता होती ही है आत्मा में भी दिव्यता होती है। परमात्मा आत्मा को अपनी दिव्यता प्रदान करके भी उसे स्वतंत्र कर्तृत्व देता है और कर्मफल में उसे परतन्त्र रखकर उस पर अपना एकतन्त्र प्रभुत्व क़ायम रखता है। इस दिव्यता का प्रकाश उन कर्मों के द्वारा व्यक्त होता है जिनके अनुष्ठान में हृदय में ईश्वर का भय और जिनकी सफलता में ईश्वर के प्रति कृतज्ञता भरी हो। आत्माओं की जीवनियों के वही पृष्ठ आभा पूर्ण होते हैं जो निस्वार्थ भाव से किये गए श्रेष्ठ कर्मों के उल्लेख से परिपूर्ण होते हैं। यदि आत्मा कर्म का फल भोगने में स्वतन्त्र न होता तो न तो उसकी दिव्यता प्रतिपादित होती और न परमात्मा की सर्वोपरिता। फलतः संसार का साम्य और व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाते। कर्मों के द्वारा आत्मा दूसरे जन्म का भाग्य बनाता रहता है।

आत्मा सूर्य के समान नित्य होता है। रात आने पर हम समझ लेते हैं कि सूर्य का लोप हो गया। परन्तु ऐसा नहीं होता। सूर्य अन्यत्र प्रकाशित रहता है। इसी भाँति मृत्यु रूपी रात्रि के आगमन पर आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। आत्मा का लोप नहीं होता। इसकी प्रगति और इसका कार्य जारी रहता है। जब हम संसार में भलों को दु:खी और बुरों को सुखी देखते हैं तो सहसा ही हमारे मन में इसका कारण जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। हम सोचने लगते

हैं कि विश्व के साधारण साम्य में यह असाम्य क्यों ? सोचते-सोचते हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मृत्यु के पश्चात् भी हमारा अस्तित्व क़ायम रहता है और पूर्वजन्म के कर्मों के फल स्वरूप भले दुःखी और बुरे सुखी होते हैं। शेक्सपीयर और कालिदास की कल्पना कहाँ हैं ? आदि कवि वाल्मीकि की प्रतिभा कहाँ है ? राम और कृष्ण, मिल्टन और भवभूति, ईसा और बुद्ध, शंकर और दयानन्द, मुहम्मद और कन्फ्यूशस के हृदय, मस्तिष्क और प्रतिभा का क्या उनके शरीर के साथ लोप हो गया था ? कदापि नहीं। यदि लोप हो गया होता तो इस प्रकार की विशिष्टताओं के दर्शन दुर्लभ हो जाते। परन्तु सच्चाई इसके विपरीत है। जब मिट्टी से बने हुए स्मृति चिन्ह हजारों वर्ष तक क़ायम रह सकते हैं तो मिट्टी से न बने हुए अपार्थिव मस्तिष्क क़ायम क्यों नहीं रह सकते ? एक ही माता-पिता से उत्पन्न एक ही वातावरण और परिस्थिति में पालित-पोषित बच्चों की शारीरिक और मानसिक योग्यताओं में विभिन्नता क्यों ? बच्चों द्वारा अपने पिछले जन्म की बातों के वर्णन से क्या आत्मा की अनश्वरता का प्रतिपादन नहीं होता ?

मनुष्य की आत्मा पिंजड़े में उत्पन्न हुए पक्षी के समान होती है जो स्वभावतः बन्धन से मुक्त होने के लिए छटपटाता रहता है। अच्छे से अच्छा खाना, उत्तमोत्तम पेय पदार्थ और प्रत्येक प्रकार की सुख सुविधा भी उसको स्वाभाविक प्रसन्नता प्रदान नहीं कर सकती। इसी प्रकार शरीर में आबद्ध आत्मा को पार्थिव आनन्द और सुख के उपभोग से वास्तविक आनन्द की अनुभूति नहीं होती। परन्तु वह इन्द्रियों के सुख को सुख और शरीर की परतन्त्रता को स्वतन्त्रता मानने की भूल करके दुःखी और परतन्त्र बन जाता है। सांसारिक और ऐन्द्रिय परतन्त्रता से मुक्त करके अपने को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्र बनाने में ही आत्मा का परमपुरुषार्थ निहित होता है। जब आत्मा ऐन्द्रिय परतन्त्रता से मुक्त होने लग जाता है तब मनुष्य को स्वतन्त्रता के वास्तविक स्वरूप के दर्शन होने लगते हैं और आत्मा में स्वाभाविक पवित्रता

और प्रफुल्लता आने लगती है। यहीं से आत्म-बल का संचार होने लग जाता है। आत्मा का बल और आत्मा की प्रसन्नता मनुष्य को द्वन्दों से ऊपर रखकर उसकी संसार की यात्रा को सुखमय बनाते और मृत्यु को हँसते-हँसते आलिंगन करने में मनुष्य को समर्थ बनाते हैं।

मनुष्य का शरीर आत्मा का पालन-पोषण स्थान होता है जो उसे पर-लोक सुधार के शिक्षण के साधन के रूप में प्राप्त होता है। जिसके माध्यम से वह अपने स्वाभाविक गुणों-ज्ञान और प्रयत्न को चरितार्थ करता है। परन्तु ये दोनों इस प्रकार चरितार्थ होने चाहिएँ जिससे वे मनुष्य और समाज दोनों के लिए कल्याण कारी हों और जिनके द्वारा आत्मा प्रकाश की ज्योति फैला कर प्रकाश के साथ ही प्रकाश पुंज में विलीन हो जाय।

संसार की प्रत्येक वस्तु और आनन्द अनित्य है, केवल आत्मा ही नित्य है। यह स्थिर तत्व हम सबके भीतर रहता है। इस अनुभूति से आनन्द विभोर हो तत्ववेत्ता कह उठता है कि अनश्वर आत्मा की गौरवपूर्ण महत्ता, उसके खतरों उसके कार्य कारणभाव और उसकी उत्कृष्ट गति के प्रति हम कब सजग होंगे?

# आत्म-ज्ञान

मनुष्य में गुण और दुर्गुण दोनों होते हैं। मनुष्य को दुर्गुणों का बोध प्रायः मित्रों के निर्देश और शत्रुओं की निन्दा से होता है। मनुष्य अपनी त्रुटियों, कमजोरियों और पापों को जितना स्वयं जान सकता है उतना अन्य कोई प्राणी नहीं जान सकता। अपने हृदय को टटोलने से ही मनुष्य यह जान पाता है कि मैं क्या हूँ? मुझे क्या बनना चाहिए? जिससे इस जगत् में मैं सुख और आनन्द से रह सकूँ और परलोक का सुधार कर सकूँ?

अपने हृदय को टटोलते हुए हमें यह देखना चाहिए कि हम परमात्मा और जगत् के सामने अपना सिर ऊँचा करके चल सकते हैं या नहीं? हम बुद्धिमान् और भले हैं या नहीं? हमें परमात्मा और अन्तरात्मा का आशीर्वाद एवं संसार के मनुष्यों का आदर और विश्वास प्राप्त है या नहीं?

रात को सोते समय अपने दिन भर के कार्यों पर हमें दृष्टि डालनी चाहिए और यदि दिन में हम से कोई बुरा काम हो गया हो तो उस पर पश्चाताप करके आगे उस काम को न करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। जीवन सुधार का यह सुपरीक्षित उत्तम साधन है। इसे आत्म-निरीक्षण कहते हैं। जब हम प्रातःकाल उठकर जीवन के कार्मों में लगें तो यह ध्यान रखें कि रात्रि को आत्म-निरीक्षण करते समय हमें अपने दिन भर के किसी कार्य या व्यवहार पर दुःखी होने का अवसर उपस्थित न हो।

अपना सुधार करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को अपने पर अत्यधिक विश्वास न करना चाहिए। जीवन में गुणों का धारण करना तो अच्छा है परन्तु उन पर अभिमान करना अच्छा नहीं है। अपने गुणों से परिचित रहने से मनुष्य में आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है जो जीवन साफल्य के लिए महत्वपूर्ण तत्व होता है। गुणों पर अभिमान करने से मनुष्य के अपने

च्छित सुधार में बाधा उपस्थित होती है। दूसरों की विशेषताओं के प्रति उदार रहने से मनुष्य अपना बहुत कुछ सुधार करने में समर्थ हो जाता है।

मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कर्त्तव्य पालन से होता है, केवल मात्र मनन और विचार करने से नहीं। कर्त्तव्य पालन में निरत व्यक्ति की उपयोगिता और विशेषताएँ दूसरे व्यक्ति ही ठीक-ठीक जान पाते हैं। दूसरों की दृष्टि में उसका जितना मूल्य होता है उसे वह व्यक्ति स्वयं नहीं जान पाता। अपनी उपयोगिता का यह अज्ञान मनुष्य को अधिकाधिक विनम्र और योग्य बना देता है।

अपनी त्रुटियों को जानने वाले कर्त्तव्यपरायण, बुद्धिमान् व्यक्ति किसी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को सहसा ही हाथ में लेते हुए डरते हैं। जब सुलेमान को न्यायाधीश का पद अर्पण किया गया तो उन्होंने डरते-डरते उस पद को ग्रहण किया। न्यूटन जैसे महान् विज्ञान वेत्ता और गणितज्ञ कहा करते थे कि मैं ज्ञान के असीम समुद्र में मोतियों की खोज के लिये गोते लगाता हूँ परन्तु मुझे कतिपय कंकड़ ही हाथ लग पाते हैं। न्यूटन की यह विनम्रता और अपनी उपयोगिता के प्रति यह उपरामता ही थी जिसने न्यूटन को अपने जीवन ध्येय में निरत रखकर उसको चमका दिया था।

मनुष्य के गुणों और बुद्धि की पहुँच की सीमा होती है। वह न तो निर्भ्रान्त होता है और न सर्वज्ञ। बुद्धिमान् व्यक्ति अपने विकास के लिए दूसरों की विशेषताओं को सामने रखते और धीरे-धीरे परमात्मा को जो परमादर्श होता है अपना आदर्श बनाकर उस तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। परमात्मा तक पहुँचने में समर्थ होने के लिये मनुष्य को अपना और परमात्मा का ज्ञान उपलब्ध करना होता हैं। जिसने अपने को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति मनुष्य को जान में वा अनजान में परमात्मा की ओर प्रेरित करती और परमात्मा के ज्ञान से आत्म-ज्ञान में परिपक्वता आकर मनुष्य दिव्यलोक से प्रकाशित हो उठता है।

आत्म-ज्ञान का अर्थ है अपने प्रति सच्चा बनना। जो व्यक्ति अपने प्रति सच्चा नहीं होता वह दूसरों के प्रति क्योंकर सच्चा बन सकता है? आत्म-ज्ञान से जहाँ मनुष्य का अपना लाभ होता, और उसे अपने गुणों का ज्ञान होता है वहाँ मनुष्य अपने और दूसरों के प्रति न्याय करने में समर्थ हो जाता है। वस्तुतः मनुष्य में दूसरे के भावों को समझने और उनका आदर करने की वास्तविक योग्यता भी आत्म-ज्ञान से आती है। जब हम दूसरों की त्रुटियों की चर्चा करने लगें तो हमें यह सोचना चाहिए कि वे त्रुटियाँ हम में हैं या नहीं? अपने दोषों और त्रुटियों को जानने के लिये हमें दूसरों के दोषों और त्रुटियों को आइना बनाना चाहिए।

खाने-पीने और मौज उड़ाने में रत रहने वाले व्यक्तियों को अपना ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होता है। उनका ध्यान और उनकी समस्त प्रक्रिया स्वार्थ-सिद्धि, भोग-विलास और सांसारिकता पर केन्द्रित होकर उनकी आत्मा खो जाती है।

अब से हजारों वर्ष पूर्व यूनानियों की घोर विलासिता में यूनान के सांस्कृतिक ह्रास के बीज का वपन हुआ था। यूनान के निवासी जब भौतिक सुख और भौतिक चमक से प्रभावित होकर शरीर के उपासक और इन्द्रियों के दास बनकर चारित्रिक पतन की ओर अग्रसर हो रहे थे तब एक दिव्यात्मा महात्मा सुकरात के रूप में अवतरित हुई। महात्मा सुकरात दिन में चिराग़ लेकर एथेन्स (यूनान की राजधानी) की सड़कों पर घूमने लगे। लोगों ने उन्हें पागल कहा। उनकी हँसी उड़ाई। जब एक व्यक्ति ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा, "एथेन्स के निवासी अपने को भूल गए है। आँखों के होते हुए भी वे अन्धे बन गये हैं। उनके हृदय की आँखें ज्योतिहीन हो गई हैं। वे दिन में भी अंधकार में टटोल रहे हैं। इसीलिए उन्हें प्रकाश की आवश्यकता है।"

"तू अपने आप को जान" सुकरात का यह महान् सन्देश था। इस संदेश का प्रसार और प्रचार करने का मूल्य उन्हें अपने प्राणों के द्वारा

चुकाना पड़ा । स्वार्थ और भोग अज्ञान और अन्धकार में विलीन प्रजा उनके इस सन्देश का मूल्य उनके जीवन काल में न समझ सकी । समय आया जब उनका यह सन्देश यूनान की ३ देव वाणियों में प्रतिष्ठित होकर डेलफी के मन्दिर द्वार पर स्वर्णाक्षरों में अंकित हुआ ।

आज की भोग प्रधान संस्कृति में जीवन-संघर्ष और शक्ति-संचय के कारण मानव का जीवन-ध्येय पेट और पैसा बना हुआ है । मनुष्य का आत्म-अज्ञान बड़ा दुःखद और शोक पूर्ण बन गया है जिसके कारण जीवन में और जगत् में अशान्ति व्याप्त हो रही है ।

# आत्म-सुधार

आत्म-सुधार का अर्थ वह प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा जीवन में गुणों का ग्रहण और अवगुणों का परित्याग किया जाता है। गुणों का ग्रहण करने के लिये मन, बुद्धि और आत्मा की पवित्रता और उनको क़ायम रखने के लिए उस संयम और नियन्त्रण की आवश्यकता होती है जो वासनाओं की उत्तेजना को काबू में रख सके, मन में पवित्र सिद्धान्तों को बद्ध मूल कर सके और हृदय को शुद्ध और निर्मल ज्ञान से ओत-प्रोत कर आभ्यन्तर प्रसन्नता की वह गंगा बहा सके जिसकी तुलना में प्रत्येक प्रकार का प्राकृत आनन्द, नगण्य, अवास्तविक और क्षणिक होता है।

मन पर उत्तम छापों के पड़ते और शरीर तथा आत्मा के शुभ कर्मों एवं सत्पुरुषार्थ में व्यस्त रहने से आत्म-सुधार की अवस्थाएं उत्पन्न हो जाती हैं। यदि मनुष्य के हृदय में यह भाव घर कर जाय कि मेरा जीवन व्यर्थ न जाय और मैं दूसरों के काम में आता रहूँ, तो मनुष्य का चामत्कारिक सुधार हो जाता है। यदि मनुष्य वर्ष में एक बार किसी शुभ अवसर पर अपनी कम से कम एक त्रुटि का परित्याग करता रहे तो बुरे से बुरा मनुष्य भी अच्छा बन जाता है। सुधार के लिये मनुष्य को अपने सामने सदैव उच्चादर्श रखना पड़ता है। जो व्यक्ति श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन और अन्यों की आदर योग्य सम्मति को मान्यता न देकर अपना आदर्श स्वयं बन जाते और अपनी सम्मति को ही सर्वोपरि समझने लग जाते हैं, वे आत्म-सुधार की दौड़ में पीछे रह जाते हैं। जो लोग कम बोलते, अधिक सुनते, मित्रों सम्बन्धियों एवं परिचितों की गोष्ठियों से पृथक् होकर एकान्त में सोचते, मनन करते और दूसरों की विशेषताओं को समझ कर उनको जीवन में धारण करने का प्रयत्न करते हैं वे शीघ्र ही उन्नति और सुधार के पथ पर अग्रसर होकर आत्म सुधार का मार्ग प्रशस्त कर लेते हैं।

यदि मनुष्य वह बनना चाहे जो कुछ वह नहीं है तो उसे विशेष प्रयत्न करके अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहिए। इस प्रयत्न से उसे अपनी उन विशेषताओं का परिचय मिल जाता है जिनसे वह अनभिज्ञ होता है।

जब मनुष्य आत्म-सुधार में लगे तो उसे अपने से यह प्रश्न करना चाहिए कि मैं कौन हूँ? किसकी शक्ति से और किसके लिए काम कर रहा हूँ? मेरे कामों में कितनी विनम्रता, कितना आत्म-त्याग, कितना ईश-प्रेम और कितना मानव-प्रेम प्रतिलक्षित होता है? और मैं अपने सिरजनहार परमात्मा की आज्ञाओं का किस सीमा तक पालन करता हूँ? आध्यामिक और प्राकृत सम्पदाओं में से कौनसी सम्पदा मेरे साथ जायगी? इन दोनों में से कौनसी सम्पदा में रत रहने से मेरा सुधार और बिगाड़ होगा?

अपने सुधार में प्रवृत्त होना बड़ा दुरूह और जटिल कार्य होता है। अपने हृदय का अध्ययन करना और भी कठिन होता है। जिन हृदयों पर सत्संग, स्वाध्याय, कर्त्तव्यानुष्ठान के द्वारा उत्तम छाप नहीं पड़ती और जो निरन्तर कुकर्मों में निरत रहते हैं उनका सुधार प्राय: असंभव होता है। परन्तु जब हम बड़े से बड़े पापी दुरात्मा और आततायी के जीवन में चामत्कारिक श्रेष्ठ परिवर्तन देखते हैं तो अनायास ही हमारे हृदय पर यह सत्य अंकित हो जाता है कि इन्द्रियों की आसक्ति सुख और शान्ति का अजस्र स्रोत नहीं होता मनुष्य उनसे कभी न कभी उपरामता अनुभव करने के लिए बाध्य होता है। हृदय आत्मिक सुख के लिए छटपटाने लगता है। सच्चा पश्चाताप और वास्तविक ग्लानि उत्पन्न करने वाला हृदय पर लगा हुआ जरा सा धक्का वह चमत्कार कर जाता है जो अनेक शास्त्रों का अध्ययन, धुरंधर विद्वानों और श्रेष्ठतम वक्ताओं के उपदेश, प्रवचन और व्याख्यान नहीं कर पाते। अतएव मनुष्य को अपने सुधार के लिए अपने हृदय की पुकार को सुनने और उसका आदर करने का अभ्यासी बनना चाहिए।

# आत्म-विश्वास

महात्मा राम ने महारानी सीता की खोज और लंका पर आक्रमण करने के लिए न तो अयोध्या से सैनिक सहायता प्राप्त की थी और न मिथिला से। वे चाहते तो दोनों राज्यों की सेनाएं उनकी सहायता के लिये उनके निर्णय पर रह सकती थीं। इस जिज्ञासा का समाधान भले ही कुछ क्यों न हो, इतना निश्चित है कि राम में आत्म-विश्वास कूट कूट कर भरा था। उनका हृदय आत्म-विश्वास जनित आशावाद से परिपूर्ण था, वे वीर थे, धीर थे, चरित्रवान् और बुद्धिमान् थे। उन्हें अपनी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों पर विश्वास था। वे परमात्मा के प्यारे थे। परमात्मा के प्यारे कर्त्तव्य परायण व्यक्तियों को बाह्य सहायता की बहुत कम आवश्यकता होती है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें यह सहायता सहज ही प्राप्त भी हो जाती है। आत्म-विश्वास के कारण उनका मार्ग प्रायः प्रशस्त रहता है। जिन्हें अपनी शक्ति पर और अपने कार्य की उत्तमता पर भरोसा होता है उन्हें असफलता का बहुत कम मुंह देखना पड़ता है। किसी कार्य को हाथ में लेने से पूर्व ही उनके इस विश्वास से कि वे उसमें सफल होंगे, सफलता सुनिश्चित हो जाती है। यह विश्वास अपने आभ्यन्तर पर निरन्तर दृष्टि रखने से उत्पन्न होता है।

आभ्यन्तर पर दृष्टि रखने का फल यह होता है कि मनुष्य को अपनी सुषुप्त शक्तियों का परिज्ञान होने लग जाता है, और उसको यह अनुभव होने लगता है कि वह उन अनेक कार्यों को कर सकने में समर्थ हो सकता है जिनको वह भाग्य के अधीन समझ कर छोड़ देने की भूल कर बैठता है। अतः मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान के लिए अपनी शक्तियों को पहचाने और उन्हें क्रिया में लाए।

हम दूसरों के साहाय्य से काम निकाल सकते हैं परन्तु हमें उस आनन्द और स्फूर्ति की अनुभूति नहीं हो सकती जो अपनी सहायता से काम के होने पर होती है। दूसरों की सहायता लेना बुरा नहीं है और जीवन में ऐसे अवसर प्राय: उपस्थित होते हैं जबकि बिना बाह्य सहायता के काम नहीं चलता, परन्तु उस सहायता के लिए जिसकी अपने उद्योग परिश्रम और विवेक के बल पर हमें आवश्यकता नहीं हो सकती दूसरों पर निर्भर रहना बुरा है। अतएव मनुष्य को यह नियम बना लेना चाहिए कि जिस काम को वह अपने बाहु और बुद्धिबल से सम्पन्न कर सकता है उसके लिये दूसरों पर निर्भर न रहे। मनुष्य का आत्मा असीम शक्तियों का केन्द्र होता है। आत्मा की शक्तियों का विकास होने पर उसमें इतना अधिक बल आजाता है कि वह अकेला संसार को हिला सकता है। जो व्यक्ति एकान्त में अपनी नैसर्गिक क्षमताओं का आनन्दानुभव नहीं करता, जिसका मन उस आनन्द की मूक प्रेरणाओं से आल्हादित नहीं रहता और जो उन क्षमताओं के आचरण से उनके पारितोषिक से लाभ नहीं उठाता, वह बड़ा अभागा होता है।

परमात्मा ने हमारे सुख और उपभोग के लिए नाना प्रकार के पदार्थों की सृष्टि की हुई है परन्तु उनकी प्राप्ति बिना प्रयास के संभव नहीं हो सकती। परमात्मा छोटे से छोटे पक्षी के लिये खाने का प्रबन्ध करता है। परन्तु वह उसको पक्षी के घोंसले में नहीं फेंक देता है।

आत्म-विश्वास की भावना मनुष्य की वास्तविक उन्नति का मूल कारण होती है क्योंकि सामर्थ्य से ही विश्वास का उद्भव होता है। समर्थ व्यक्ति ही उन्नति की चोटी पर चढ़ने में समर्थ हुआ करते हैं। परामुखापक्षी व्यक्ति और समाज पग पग पर अपमानित होने के अतिरिक्त परतन्त्र रहते और स्वतन्त्रता एवं आत्म-निर्भरता के प्रसादों से वंचित रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों और समाज पर यह बात भली भाँति अंकित होनी चाहिए कि जो व्यक्ति केवल नकल करता है वह न तो कवि बन सकता है और न

चित्रकार। जो व्यक्ति सदैव तूंबों के सहारे तैरता है वह तैराक नहीं बन सकता। इसी भांति जो व्यक्ति या समाज दूसरों की दया और अनावश्यक सहायता पर निर्भर रहता है वह दुःखी और परतन्त्र रहता है। संसार के श्रेष्ठ एवं सर्व साधारण जन स्वावलम्बी व्यक्ति का ही आदर करते हैं।

जो व्यक्ति सुख और हर्ष की ओर ले जाने वाली प्रत्येक वस्तु के लिए अपने पर निर्भर रहता और दूसरों पर निर्भर नहीं रहता तो समझो उसने सुखी जीवन की उत्तम योजना बनाली है। इस प्रकार का व्यक्ति बुद्धिमान्, चरित्रवान् और संयमी होता है। ऐसा व्यक्ति अपने पर और परमात्मा पर निर्भर रहता है। हो सकता है मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति कराने में परमात्मा उसकी सहायता न करे परन्तु कठिनाइयों का सामना करने में उसे परमात्मा की सहायता निश्चित रूप से प्राप्त रहती है। वह गिरता है, उठता है परन्तु अपने आत्मा को गिरने नहीं देता। अपने पर विश्वास रखता है, सन्देह नहीं करता। आत्म-विश्वास के कारण वह सहायता के स्त्रोतों को अपने निर्णय पर समझता हुआ उन पर सहज ही अधिकार कर लेता है। आत्म-अविश्वास ही हमारी बहुत सी असफलताओं का कारण होता है। सफलता की प्रथम सोपान पर चढ़ने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य आत्माविश्वास को अपने पास न फटकने दे। यदि हम अपने को कमज़ोर समझने लग जायं तो कमजोर बन जायंगे। यदि अपने को बलवान् समझने लग जायं तो बलवान बन जायंगे। आत्म-विश्वासी जन संसार को अपने लिए नन्दन-वन बनाकर उसका अच्छे से अच्छा उपभोग करके अपनी जीवन यात्रा सुख और हर्ष-मय बना लेते हैं।

# आत्म-सम्मान

प्रत्येक पुरुष में दूसरों के द्वारा सम्मानित होने की इच्छा स्वाभाविक होती है। ऐसी इच्छा करते समय अनेक मनुष्य इस बात की परवाह नहीं करते कि वे दूसरों के आदर के पात्र हैं वा नहीं। आदर न होने पर वे बुरा मानते हैं। उन्हें दुःख और कष्ट होता है। यदि वे बुरा मानने के स्थान में यह देख लिया करें कि वे स्वयं अपनी दृष्टि में सम्मानित हैं या नहीं तो उन्हें कष्ट न हुआ करे। अपनी दृष्टि में ऊंचा उठे हुए व्यक्तियों को दूसरों के आदर वा निरादर की चिन्ता नहीं होती। हमारा अपना हृदय ही, हमारे सम्बन्ध में अच्छी या बुरी वास्तविक सम्मति बनाया करता है। अच्छी सम्मति तभी बन सकती है जब कि हम में गुण हों और हम उस सम्मति के अधिकारी हों। दूसरे व्यक्ति अनेक अवस्थाओं में हमारे सम्बन्ध में आदर की सम्मति बनाते हैं जबकि हम वास्तव में उसके अधिकारी नहीं होते, और हम उस पर प्रसन्न होते हैं परन्तु अपने हृदय की न्याय्य और पवित्र सम्मति पर निर्भर रहने वाला व्यक्ति उस आदर पर प्रसन्न नहीं होता। वह अपने सद्‌गुणों के बल पर हृदय के समर्थन पर दूसरों के आदर का पात्र बनने की चेष्टा करता है। वह उधार लेकर धनवान् बनना उचित नहीं समझता।

जीवन में गुणों के होने से ही मनुष्य अपने हृदय का और दूसरों का आदर प्राप्त करता है। आत्म-सम्मान से हमारी नैतिकता, धर्म्म भावना और हमारी सदाचरण की प्रेरणा प्रशासित होती है। दूसरों के प्रति प्रेम और हित भावना के कारण हमें कभी २ अपने व्यक्तित्व को बहुत विस्तृत करना होता है और कभी कभी अपने को बहुत पीछे हटाना पड़ता है। दूसरे शब्दों में हमारा आचरण बहुत कुछ लोक हित और प्रेम भावना से नियंत्रित और प्रभावित रहता है परन्तु उसी सीमा तक प्रभावित रहना चाहिए जहां

तक नैतिकता की रक्षा होती हो। अतः सदाचरण के लिए मनुष्य में आत्म-सम्मान और दूसरों के लिये प्रेम और हित-भावना का होना आवश्यक है।

आत्म-सम्मान वह स्रोत होता है जिससे उत्साह और सद् प्रेरणाएं प्रवाहित होती रहती हैं, और संसार में अपना मार्ग प्रशस्त करने की मनुष्य में क्षमताओं का प्रादुर्भाव होता रहता है। परन्तु दम्भ और मिथ्या आत्म सम्मान की भावना से और अपने को आवश्यकता से अधिक हेय मानने से यह स्रोत कुंठित होजाया करता है।

यदि कोई व्यक्ति अपने गुणों और आन्तरिक आभूषणों के स्थान में अपने रंग-रूप, वेष-भूषा, धन-वैभव, और सम्पदा के आधार पर अपने को सम्मानित समझता है तो वह मिथ्याभिमानी होने का परिचय देता हुआ उस व्यक्ति के समान भूल करता है जो सुनहरे फ्रेम से किसी हीरे का और चमकते हुए मुख पृष्ठ से किसी पुस्तक का मूल्य आँकता है। अपने को आवश्यकता से अधिक हेय समझने से मनुष्य की सुषुप्त शक्तियां विकसित होने से रह जाती हैं और चरित्र निर्माण में वाधा उपस्थित हो जाती है। तभी तो पाइथागोरस अपने शिष्यों को कहा करते थे कि तुम लोग अपना आदर करो। यदि हम स्वयं अपने को अनावश्यक रूप से हेय समझेंगे तो दूसरे व्यक्ति भी हेय समझेंगे। यदि हम अपने पर अत्य-धिक अविश्वास करेंगे तो दूसरे भी हम पर अविश्वास करेंगे। जो स्वयं अपने को छोड़ देता है उसे दूसरे क्योंकर अपना सकते हैं?

आत्म-सम्मान पर लगी हुई ज़रा सी चोट भी निर्बल से निर्बल व्यक्ति में अतुल बल का संचार कर देती है और ग़रीब से ग़रीब व्यक्ति में उस अग्नि की उत्पत्ति कर देती है जिससे आत्म-सम्मान को ठेस पहुंचाने वाले व्यक्ति अपने को लज्जित और भयभीत अनुभव करने लग जाते हैं। इस लिए दूसरों के साथ व्यवहार में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि लोगों के आत्म-सम्मान को अन्याय पूर्वक ठेस न पहुँचे। जब किसी जाति या देश के आत्म-सम्मान पर अन्याय और अत्याचारपूर्ण शासन या

आधिपत्य के द्वारा भयंकर आघात् होता है तब उसकी प्रतिक्रिया बड़ी भयंकर होती है और उस प्रतिक्रिया को ज़रा सी वायु भयंकर तूफ़ान का रूप धारण करके बड़े से बड़े विशाल राज्यों को मिट्टी में मिला कर शासकों के सुदृढ़ भवनों को धराशायी कर देती है। अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करते हुए मनुष्य को दूसरों के आत्म-सम्मान का भी उचित ध्यान रखना चाहिए।

आत्म-ज्ञान, आत्म-सम्मान और आत्म-संयम से उस शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिसका सामना करना बड़ी से बड़ी भौतिक शक्ति के लिए कठिन होता है। भारतवर्ष इसी शक्ति के आधार पर सदैव संसार का नेतृत्व और आदर प्राप्त करता रहा है। हम भारतीयों को अपनी इस विशद परम्परा की प्राणपण से रक्षा करके आत्म-गौरव से अपना और अपने देश का मुख उज्जवल रखना चाहिए।

# आत्म-नियन्त्रण

एक सेनापति अपने शौर्य्य के लिये बड़ा प्रसिद्ध था। युद्ध भूमि में अनेक गौरव-पूर्ण विजय प्राप्त करने के कारण उसके देशवासी उस पर अभिमान करते थे। एक बार एक प्रबल शत्रु को हराकर जब वह नगर को लौटा तो लोगों ने एक विशाल जलूस निकालकर उसका अभिनन्दन किया। उस जलूस में एक सुन्दर स्त्री से उसकी चार आँखें हुईं और उसे दो आँखों से परास्त होते देर न लगी। वस्तुतः वीर वही होता है जो अपने पर विजय प्राप्त करता है। अपने पर अधिकार न रखने वाला बड़े-से-बड़ा योद्धा और शूरवीर भी कायर और गुलाम होता है।

आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती को महाराणा उदयपुर द्वारा एक लिंग मन्दिर के महन्त की गद्दी आग्रह पूर्वक भेंट की जाती है जिसकी आय लाखों रुपये वार्षिक की थी। महर्षि इस भेंट को अस्वीकार कर देते हैं। महाराणा आग्रह करते और अपनी इस प्रबल इच्छा की पूर्ति के लिए महर्षि से विशेष अनुरोध करते हैं। महर्षि पूछते हैं "महाराणा मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूं या परमात्मा की जिसके लिए मैंने सर्व-मेध यज्ञ किया हुआ है?" यह सुन कर महाराणा निरुत्तर हो जाते हैं। अपने विशुद्ध अन्तरात्मा और परमात्मा की आज्ञा का पालन करने से मनुष्य को अपने ऊपर अधिकार प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य के व्यक्तित्व में आकर्षण, वाणी में प्रभाव, कर्म में सौष्ठव और चरित्र में बल और सौन्दर्य्य होना चाहिए। ऐसी अवस्था की प्राप्ति के लिए मनुष्य को बड़ा तप, और त्याग करना पड़ता है। अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त करनी होती है अपने शरीर को आत्मा के अधीन करना पड़ता है अपने स्वार्थ को परमार्थ पर न्यौछावर करना होता है। अपने आपको माया-मोह और प्रलोभनों से ऊपर रखना आवश्यक है। काम, क्रोध, लोभ,

मोह के मोहक परन्तु कुत्सित प्रभावों से अपने को बचाना पड़ता है। संसार में उच्च जीवन की ओर ले जाने वाली जो अव्यक्त प्रगति होती है उसमें सर्वाधिक योग आत्म-संयमी, ज्ञानवान् और सत्कर्मियों का ही होता है। प्रत्येक पाप पूर्ण कर्म जिससे लोहा लिया जाता है, प्रत्येक बुरा विचार जिसको मन में उठने और प्रत्येक बुरा शब्द जिसको वाणी पर आने से रोका जाता है, एवं प्रत्येक उच्च भावना जिसको प्रोत्साहित किया जाता है. संसार के हर्ष समुदाय में योग देते हैं।

महात्मा राम राज्याभिषेक की तैयारी में व्यस्त थे। उसी समय वे महाराज दशरथ की कक्ष में बुला लिये जाते हैं और केकई द्वारा उन्हें वन गमन का आदेश सुना दिया जाता है। परन्तु राम ने अपनी आत्मा में जिस साम्राज्य की सृष्टि की हुई थी उसकी तुलना में अयोध्या का पार्थिव साम्राज्य नगण्य था। उन्होंने धैर्य और शान्ति के साथ उस आज्ञा को सुना। भाईयों को रोष आया, माताओं ने विलाप किया, राजमहल और नगर में शोक छाया। दशरथ और केकई को बुरा भला कहा गया परन्तु महात्मा राम अविचल रहे। सबको सान्त्वना देते हुए प्रसन्न मन से वन को चले गए। राम ने अपने आचरण से यह दिखला दिया कि वे वासनाओं और मनोविकारों के दास न थे। अपने ऊपर उनका पूर्ण अधिकार था। उनकी इच्छाएं बुद्धि के अधीन थीं। दुःख को हंसते हुए सहन करने, आपत्ति पर विजय प्राप्त करने, हर्ष और शोक में एक रस रहने, भय, आतंक और घृणा से ऊपर रहकर अपने शुभ संकल्पों पर डटे रहने, तूफ़ानों और बवंडरों में अविचल खड़े रहने से वे बिना मुकुट पहने हुए भी सम्राटों के सम्राट् थे। जब सिकन्दर ने समस्त संसार को जीतकर अपने वश में कर लिया और उसके पशुबल का सामना करने वाला कोई न बचा तो वह रोने लगा। उसके आँसू क्या थे? उस साम्राज्य के प्रति मूक श्रद्धाञ्जलि थी जिसे वह जानता न था। वह साम्राज्य आन्तरिक साम्राज्य था। अभिमान् और महत्वाकांक्षा इस आन्तरिक साम्राज्य के प्रबल शत्रु हैं।

एक भारतीय रानी अपनी वीरता युद्ध-कौशल और सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थी। एक बार वह किसी युद्ध में सहायता माँगने के लिए अपने सैनिकों के साथ एक युरोपियन राज्याधिकारी से मिलने के लिए गई। जब रानी उस अधिकारी के कमरे में पहुँचकर अपने सैनिकों के साथ उचित स्थान पर बैठ गई तब वह अधिकारी अपने कमरे से निकलकर आया और मेज पर बैठकर काग़ज़ देखने लगा। काग़ज़ देखते हुए वह बीच २ में रानी की ओर दृष्टि डालने लगा। रानी बैठी हुई उसको देखकर मन्द २ मुस्कराती थी। उस समय वह अधिकारी अधिक शराब पिए हुए था। रानी के रूप लावण्य पर मुग्ध हो काग़ज़ छोड़कर उठा और रानी की ओर मुड़कर और उसको अपने बाहुपाश में कसकर उसका जोरों से चुम्बन करने लगा। रानी के साथी इस कुचेष्टा को देखकर आग बबूला और अधिकारी को मार डालने के लिए उद्यत हो गए। रानी ने मन्द-मन्द मुस्कराते हुए अपने सैनिकों को संकेत से मना किया और कहा "मित्रो यह ईसाई पादरी पिता अपनी बेटी को पाप-मुक्त करने की प्रार्थना कर रहा है"। यह सुनते ही वह कामी लज्जित हो रानी को अपने बाहुपाश से मुक्त कर देता है। बाद में उन दोनों में चिरकाल पर्य्यन्त भाई बहिन के सम्बन्ध स्थिर रहते हैं। यदि रानी उस भीषण अवसर पर अपने पर काबू न रखती तो न जाने कितना भयंकर काण्ड हो गया होता। उसने अपने क्रोध पर असाधारण अधिकार रखने का परिचय दिया। पुरानी कहावत है कि जो आवेश में नहीं आता वह मूर्ख होता है परन्तु जो क्रोध की परिस्थिति में भी क्रोध नहीं करता वह बुद्धिमान् होता है।

अर्जुन तप कर रहे थे। उनको विचलित करने के लिए उर्वशी नामकी एक परम सुन्दरी अप्सरा उनके पास जाती और अपने हाव-भाव और संकेतों से उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने का यत्न करती है परन्तु तप के धनी महात्मा अर्जुन अविचलित भाव में अपने ध्यान में निमग्न रहते हैं। अपने समस्त मूक उपायों को आजमा लेने के पश्चात् अन्त में उर्वशी अर्जुन से कहती है

"अर्जुन, क्या तुम मुझ को नहीं देख रहे हो।" अर्जुन उत्तर देते हैं, "देवि मैं तुम्हें देख रहा हूँ। तुम मुझे माँ कुन्ती के रूप में देख पड़ रही हो"। मन की ऐसी उच्चावस्था निरन्तर तप और अभ्यास से उत्पन्न होती है। भोगों के अमर्य्यादित भोग से दुःख और बन्धन होता है। भोगों का वास्तविक आनन्द उनमें लिप्त होने से नहीं अपितु त्याग और संयम से उनका उपभोग करने से प्राप्त होता है।

एक बार महात्मा चैतन्य प्रचार करते करते एक नगर में गए। उस नगर में मघाई नामका एक दुष्ट और आततायी रहता था। जब नगर में चैतन्य के सत्संग का उपक्रम हुआ और सहस्रों नरनारी उसमें सम्मिलित हुए तो मघाई ने कुछ दुष्ट साथियों को ले जाकर सत्संग में विघ्न डाला और महात्मा को अपशब्द कहे। महात्मा मौन रहे। सत्संग की समाप्ति पर अपने निवास स्थान पर पहुँच कर महात्मा चैतन्य ने अपने शिष्यों को मघाई को बुलाने के लिए भेजा। जब वे लोग मघाई के घर पहुँचे तो उन्होंने मघाई को शराब के नशे में चूर पाया। चैतन्य का संदेश सुनकर वह आग-बबूला हो गया और उनके शिष्यों को डरा धमका और मारपीट कर भगा दिया। चैतन्य ने दोबारा अपने शिष्यों को मघाई को बुलाने के लिए भेजा। इस बार वह इस भय से कि कहीं वे बदला लेने के लिए न आए हों घर में घुस गया और उसने द्वार बन्द कर लिया। इस पर चैतन्य के शिष्य बलात् मघाई के घर में घुस गए और उसे पकड़ कर चैतन्य के पास ले गए। चैतन्य को देखकर मघाई काँपने लगा। चैतन्य ने बड़े प्रेम से मघाई को पलंग पर बिठाया जिसपर मखमली गद्दे बिछे हुए थे और उसके शिर पर हाथ फेरकर पूछा "मघाई, तुम्हें कहीं चोट तो नहीं लगी ? इन लोगों ने तुम्हारे साथ जबरदस्ती करके बड़ी भूल की है"। चैतन्य के इस अप्रत्याशित सद्व्यवहार से मघाई बड़ा प्रभावित हुआ। उसकी आँखों में आँसू आ गए और चैतन्य महाप्रभु से अपने अपराध की हाथ जोड़ कर क्षमा माँगी। इस घटना ने मघाई की काया-पलट कर दी

और वह सत्कर्मी बन गया। जो व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण के इस प्रकार के उदाहरण हमारे सामने रखता है जिनसे हमारा जीवन उत्कृष्ट बन सके और हम विकारों से ऊंचे उठ सकें; वह वस्तुत: वर्तमान पीढ़ी को ही नहीं अपितु आने वाली पीढ़ी को भी उपकृत करता है।

बनवीर हाथ में नंगी तलवार लिए बालक उदयसिंह को मारने के लिए राजमहल में घुसता है। पन्नाधाय से पूछता है उदयसिंह कहाँ है ? पन्ना अपने हृदय को हाथ में लेकर अपने प्यारे पुत्र की ओर इशारा कर देती है। बनवीर की तलवार बालक की गर्दन पर पड़ती और माँ के सामने ही बेटे का काम तमाम हो जाता है……। आत्म-त्याग और मोह-त्याग का ऐसा अनूठा उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलता है ?

बहुत से व्यक्ति संयम और आत्म-नियन्त्रण की कमी के कारण अपनी कठिनाइयों और अमित्रों की सृष्टि और वृद्धि करते रहते और जीवन पर्यन्त उनसे छुटकारा पाने के संघर्ष में निरत रहते हैं परन्तु उन लोगों से कम बुद्धि और अनुकूल परिस्थितियों वाले व्यक्ति अपने सन्तोष और मन की शान्ति के बल पर अधिक सुखी पाए जाते हैं। मनुष्य को सुख प्राप्ति के लिए बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है अपितु अपने भीतर ही सुख की खोज करनी चाहिए। हमारे पास जो कुछ हो उससे तो संतुष्ट रहना चाहिए और जो कुछ हम हैं उससे सन्तुष्ट न रहकर अपने को अधिकाधिक योग्य बनाना चाहिए।

निस्सन्देह आत्म-नियन्त्रण का कार्य कठिन होता है। ज्ञानवान और कर्तव्य-पालन में लगे हुए व्यक्तियों के लिए यह सरल होता है। काम, क्रोध, लोभ और मोह से ऊपर उठे हुए व्यक्तियों से इसकी सिद्धि का उपाय और इसके प्रसादों को पूछो। काम क्रोध, मोह आदि अपने में हेय या त्याज्य नहीं होते। जब ये मर्यादा से बाहर जाकर मनुष्य के विवेक पर हावी हो जाते हैं तभी ये हेय बन जाते हैं। महामना केशवचन्द्र सेन महर्षि दयानन्द से पूछते हैं कि क्या कभी आपके मन में काम का विकार उत्पन्न ही नहीं

होता, महर्षि से वे इस प्रकार के अनेक प्रश्न करते और स्वामी जी उनका उत्तर देकर उन्हें निरुत्तर कर देते और अन्त में कहते हैं "केशवबाबू, मैं अपने प्रचार कार्य में इतना निमग्न रहता हूँ कि मेरे मन में इस प्रकार का विकार ही नहीं उठ पाता।"

दक्षिण अफ्रीका में एक भारतीय कुली की पत्नी एक गोरे अफ़सर के द्वारा अपने पति के अत्यधिक पीटे जाने पर विह्वल हो जाती है। उसके पति का अपराध यह था कि उस दिन वह अपने उस अफ़सर के लिए नित्य की भांति स्त्री का प्रबन्ध न कर सका था और उसने अपनी एक निकट सम्बन्धिनी को जो उसी दिन भारतवर्ष से आई थी और जिस पर उस अफ़सर की कुदृष्टि पड़ गई थी, गोरे अफ़सर के पास भेजने के लिए इन्कार कर दिया था। कुली की पत्नी से जब अपने पति को बेंतों से पिटना न देखा गया तो उसने उस राक्षस की काम पिपासा की सन्तुष्टि के लिए अपने को प्रस्तुत कर दिया। कोड़ों की मार से आहत पति बरामदे में डाल दिया गया और पत्नी अफ़सर के कमरे में ले जाई गई। उस कमरे में कई चित्र टंगे हुए थे जिनमें एक चित्र महात्मा ईसा का था। उस स्त्री ने बड़े प्यार से उस अफ़सर से पूछा "साहब, यह चित्र किसका है? शराब के नशे में उन्मत्त गोरे ने कहा "यह चित्र हमारे पैग़म्बर ईसा मसीह का है। उस स्त्री ने पूछा "तब क्या ईसा के सामने ऐसा पाप कर्म करना अच्छा होगा?" इस प्रश्न से उस गोरे का नशा और क्रोध कुछ कम हो गया। उसने दबी जुबान में कहा "ऐसा करना अच्छा न होगा।" यह कहकर वह कौचपर बैठ गया और थोड़ी देर कुछ सोचकर कहा, "तुम जा सकती हो, तुम्हारे मालिक को हम हस्पताल भेजते हैं"। वस्तुतः जिस प्रकार हम महापुरुषों गुरुजनों राजाओं और राज्याधिकारियों की उपस्थिति में आत्म-नियन्त्रण का परिचयदेते हैं उसी प्रकार अकेले में अपने को परमात्मा के सामने उपस्थित जानकर आत्म-नियन्त्रण का परिचय देने लगें तो आत्म-नियन्त्रण का मार्ग सरल हो जाय।

राजा अश्वपति अभिमान पूर्वक कहा करते थे कि मेरे राज्य में न कोई चोर है, न जुआरी है, न शराबी है और न व्यभिचारी है"। सुशासन वही होता है जो प्रजाको आत्म-संयम में रहना सिखाए। क्या विलासिता, ऐय्याशी फैशन-परस्ती, आराम तलबी और नशाखोरी आदि को उनके विविध अभिशापों के साथ प्रोत्साहित करने वाले शासन राजा अश्वपति की तरह अपने पर अभिमान कर सकते है? आज अपराधों को कम करने के लिए नाना प्रकार के कानून क़ायदे बनाए जाते हैं फिर भी अपराधों में कमी नहीं आती अपितु उनमें वृद्धि होती जाती है? क्यों ? इसलिए कि लोगों के कमजोर मन प्रकृति की भूल भूलैयों में फंसकर कानून की परवाह नहीं करते। जिस शासन में बहुत कम कानून क़ायदे बने होते हैं वह उत्तम समझा जाता है। उस शासन द्वारा शासितों को कानून में बाँधने की बहुत कम आवश्यकता होती है। संयमी और सदाचारी प्रजाजनों का उत्तम जीवन स्वयं कानून होता है।

वे महापुरुष धन्य हैं जो संसार के सुधार और सेवा में निरत रहते और न केवल अपने सत्प्रयत्नों से समाज को स्वस्थ बनाते हैं अपितु उसकी विचारधारा में मूल भूत परिवर्तन करके समय के प्रवाह को बदलने में भी उल्लेखनीय योग देते हैं। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के वश का यह कार्य नहीं है, समय के प्रवाह पर उसका अधिकार नहीं होता और न वह संसार के सुधार का ठेका लेकर ही आता है। उसका एक मात्र अधिकार एक व्यक्ति पर होता है और वह स्वयं होता है। यदि मनुष्य दूसरों का सुधार करने का ढोंग न करके अपनासुधार करे और अपने को ईमानदार और सदाचारी बनाले तो सारा समाज अच्छा और सदाचारी बन सकता है।

# आत्म-त्याग

हुमायूं चिन्ताजनक अवस्था में रोग-शैय्या पर पड़ा है। उसका पिता सम्राट् बाबर हुमायूं की जीवन-रक्षा के लिये परमात्मा से प्रार्थना करता है कि "हे पिता, तू मेरे पुत्र को स्वस्थ करदे भले ही इसके बदले मेरी जान ले ले।" कहा जाता है इस प्रार्थना के पश्चात् हुमायूं स्वस्थ हो गया। निस्सन्देह आत्म-त्याग में दिव्यता का अंश होता है और आत्म-त्यागी जन परमात्मा के अमित प्रसादों का उपभोग करके आनन्द में रहते हैं।

महाराणा प्रताप की गणना भारत के ही नहीं अपितु संसार के महान् वीरों में की जाती है। उनकी वीरता, शारीरिक बल-वीर्य, त्याग, तप, बलिदान और सदुद्देश्य से प्रकाशमान् थी। वे मातृ-भूमि की स्वाधीनता की रक्षा के लिए पागल बन गए थे, न खाने की सुधि थी, और न ऐश-आराम की। प्रबल शत्रु से लड़ने के साथ २ उन्हें अपनी इच्छाओं और सांसारिक मोह से भी प्रबल युद्ध करना पड़ता था। करुणा को भी द्रवित करने वाली परिस्थितियों में ग्रस्त होकर भी सत्यपथ पर आरूढ़ रहने से उन्होंने उन उच्च और श्रेष्ठ योद्धाओं में स्थान प्राप्त किया था जिनका चिरकाल पर्यन्त लोग गुणगान करते और जिन पर श्रद्धा और प्रेम की वर्षा किया करते हैं। कर्त्तव्य-पालन में बाधक वस्तुओं और शक्तियों से ऊपर रहने से मनुष्य अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करके मानवीय महत्ता के आदर्श की पूर्ति में उत्तम योग दिया करता है। ऐसा मनुष्य प्रायः विशुद्ध अन्तर्आत्मा की प्रेरणा से प्रभावित रहता है जो सदैव प्रत्येक वस्तु और कर्म को सन्मार्ग में प्रेरित रखने की प्रेरणा किया करती है। अपने वैयक्तिक सुख और आराम की, लाभ और हानि की मान और अपमान की पर्वा न करते हुए अपने

को कर्त्तव्य कर्म में निरत रखने से मनुष्य उच्च और श्रेष्ठ बनता और आदर्श समाज की सृजना का कारण बनता है ।

अयोध्या में और महाराज दशरथ के अन्तःपुर में सुख और शान्ति, सौख्य और आनन्द की गंगा बह रही थी । कैकेई के लिए स्वर्गीय अवस्थाएं प्राप्त थीं भरत के लिए राज्य प्राप्ति की स्वार्थ भावना से विमोहित होकर उसने दिन को रात में परिवर्तित करके अपने ही हाथों से अपने वृक्ष को काट डाला था । भरत द्वारा राज्य प्राप्त कर लेने पर भौतिक सुख और ऐश्वर्य के उपभोग के उसके सुख स्वप्नों को भंग होते देर न लगी । कैकेई के स्वार्थ से भरत को जो राज्य सिंहासन मिला उस पर स्वयं न बैठकर, राम की चरण पादुकाएं स्थापित करके जिस त्यागमय जीवन एवं एकान्त निष्ठा से राम की उस धरोहर की रक्षा की उससे महात्मा भरत को दिव्य सिंहासन प्राप्त हो गया था । केकई ने स्वर्गीय अवस्थाएं खोई और भरत ने स्वर्गीय अवस्थाएं प्राप्त कीं । भरत ने अपने आत्म-त्याग से यह दिखा दिया कि त्यागी-तपस्वी जन जितना खोते हैं उससे अधिक परमात्मा की ओर से उन्हें मिल जाता है । कैकेई के स्वार्थ से भरत की मृत्यु हो गई थी, परन्तु वे अपने त्याग से जीवित होकर अमर हो गए ।

जो माता-पिता अपने को भुलाकर, अपने सुख और आराम को तिलाञ्जलि देकर, अपनी सन्तान को सुखी और सुयोग्य बनाते हैं, जो पत्नी अपने को पति सेवा पर मिटा देती है, जो भाई, हितू, बान्धव अपने भाई बहनों, सगे-सम्बन्धियों तथा इष्ट-मित्रों की सुख समृद्धि और योगक्षेम के लिए कर्त्तव्य वशात् आत्म-सात कर देते हैं, जो महापुरुष संसार के कल्याण के निमित्त अपने जीवन को यज्ञ-मय बनाते, अपने को और अपने कार्य को परमात्मा के अर्पण रखते हैं वे धन्य हैं ।

संसार की वर्तमान अशान्ति के भले ही अन्यान्य कारण क्यों न हो प्रधान कारण शिक्षा पद्धति की मूल भूत त्रुटि है जिसके लक्ष्य में मनुष्य

का एक मात्र ऐहिक और बौद्धिक विकास है। शिक्षा वही है जो मनुष्य बनाने वाली हो और मनुष्य के आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के विकासका कारण बनकर उन दोनों में उचित सामंजस्य बनाए रख सकती हो। आत्माविकास और आत्मत्याग की शिक्षा देने वाली शिक्षा पद्धति आज के भौतिक युग में भोगवाद के उपासकों की दृष्टि में भले ही अग्राह्य और तिरस्कृत हो परन्तु यह शिक्षा पद्धति उस सर्वोत्तम कही जाने वाली शिक्षा से कहीं अच्छी है जो आत्म-त्याग के अतिरिक्त सब कुछ सिखाती हो। यदि मनुष्य शिक्षित होकर भी आत्म-नियन्त्रण का परिचय न दे सके विकारों से ऊपर न उठ सके, इन्द्रियों का दास बना रहे, भावी सुख पर वर्तमान सुख को अर्पित न कर सके और अपने व्यक्तिगत लाभ को परहित पर बलि न दे सके तो उसका शिक्षित होना वा न होना समान है। ऐसे ही शिक्षितों के द्वारा संसार का सुख और शान्ति खतरे में पड़ गई हैं। ऐसे शिक्षितों के द्वारा सुख और शान्ति की चर्चा करना ठीक वैसा ही है जैसा कि किसी जन्मान्ध के द्वारा किसी रंग की चर्चा करना। आत्म-त्याग का एक ही गुप्त कार्य और सिद्धान्त रक्षा के लिए एक ही विकार का परित्याग बढ़िया विचारों, प्रबल भावनाओं और मार्मिक प्रार्थनाओं से उच्च होता है जिसमें निकम्मे और मानसिक दास आनन्द लिया करते हैं।

ईश्वरचन्द्र-विद्यासागर के बचपन की एक घटना है। एक दिन वे दिन भर का खाना कपड़े में बांधकर अपने खेत को जा रहे थे जो ५,६ मील दूर था। मार्ग में उन्हें एक बूढ़ा अपाहिज मिला जो भूख से तड़प रहा था। उसने ईश्वरचन्द्र से खाना माँगा। पहले तो बालक ईश्वरचन्द्र ने सोचा कि यदि मैं अपना खाना इस अपाहिज को दे दूंगा तो मुझे सारेदिन भूखा रहना पड़ेगा परन्तु उसने सारा खाना बूढ़े को दे दिया और स्वयं भूखा रह गया। वस्तुतः वे ही व्यक्ति सच्चे अर्थ में दानी और परोपकारी होते हैं जो स्वयं तंगी और कष्ट उठाकर दान देते और परोपकार करते हैं।

जिस दान में दानी को व्यक्तिगत् त्याग न करना पड़े वह दान नहीं कहा जा सकता, और न उस दान से दान की महत्ता स्थापित हो सकती है।

आत्म-त्याग स्वयं पुरस्कार होता है। संसार के व्यक्ति स्वभावतः आत्म-त्याग से प्रभावित होते और उनके हृदय में आत्म-त्यागियों के प्रति बड़ा आदर होता है। आत्म-त्याग स्वतः प्रकाश होता है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को पहचानता और संसार को प्रकाशित करता है।

# चरित्र

प्रायः इच्छा शक्ति से ही हमारे कर्म अच्छे या बुरे बनते हैं। अतः कर्मों को अच्छा बनाने के लिए इच्छा शक्ति का विकसित और संयत होना आवश्यक है। कर्मों से ही चरित्र अच्छा या बुरा बनता है। दूसरे शब्दों में संयत इच्छा शक्ति ही चरित्र कहलाता है।

### *सर्वोत्तम बपौती*

प्रायः लोग अपनी सन्तान के लिए धन सम्पदा छोड़ जाने में अपनी बड़ी सफलता और सन्तान का बड़ा हित समझते हैं। परन्तु वे भूल जाते कि निर्मल और उज्ज्वल चरित्र की बपौती सर्वश्रेष्ठ बपौती होती है जिसकी तुलना में धन सम्पत्ति की बपौती कुछ अर्थ नहीं रखती। भावी सन्तान के लिए उत्तम चरित्र की बपौती छोड़ जाना मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी सफलता होती है। धन सम्पत्ति की बपौती धनवान ही छोड़ सकते हैं, परन्तु चरित्र की बपौती निर्धन व्यक्ति भी अपने पीछे छोड़ सकता है। जिस जीवन पर आने वाली सन्तान अभिमान न कर सके अथवा उससे प्रेरणा ग्रहण न कर सके वह व्यर्थ ही होता है। मनुष्य को अपना ऐसा चरित्र छोड़कर न जाना चाहिए जिसके कारण समाज में सन्तान को लज्जित होना पड़े। वे पुरुष धन्य हैं जो अपने उत्तम चरित्र के कारण वर्तमान तथा आने वाली सन्तति के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम करते हैं।

### *चरित्र निर्माण मनुष्य का अपना कार्य*

कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होता है। हो सकता है इस कहावत में कुछ अतिशयोक्ति हो। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने चरित्र का स्वयं निर्माता होता है इस में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। मनुष्य अपने व्यक्तिगत परिश्रम से ही अपना चरित्र उत्तम बना

सकता है। चरित्र न तो बच्चों को उत्तराधिकार में प्राप्त होता है और न कुल, सम्पदा अथवा उच्च स्थिति के साथ आवश्यक रूप से इसका कोई सम्बन्ध ही होता है। चरित्र मनुष्य के अपने प्रयत्न का फल और सम्मानित कर्मों में निहित सिद्धान्तों का पुरस्कार होता है। मनुष्य का चरित्र वह छाप होती है जो शुभ और अशुभ कर्मों की स्वतन्त्र पसन्द के द्वारा आत्मा पर पड़ती है। बुरी भावनाओं का जमकर मुकाबला करने और उन पर विजय प्राप्त करने से चरित्र श्रेष्ठ बना करता है। अपने बुरे स्वभाव को अच्छा बनाना और स्वार्थ को परमार्थ में परिवर्तित करना उत्तम चरित्र निर्माण की ओर अग्रसर होना समझा जाता है। विरोधियों और शत्रुओं की उपस्थिति में निर्मित हुआ ऐसा चरित्र बहुत आकर्षक होता है।

जो मनुष्य स्वभावत: दूसरों के सम्बन्ध में सम्मति बनाने में उदारता का परिचय दे, जिसकी भावनाओं में दयालुता, स्नेह में उपकार भावना, सामाजिक सम्पर्क में प्रफुल्लता, जीवन में दानशीलता, इच्छाओं में संयम, आत्मनिरीक्षण के प्रति सत्यता हो, और जो जीवन पर्यन्त भला बनने और भला करने के लिए प्रयत्नशील रहता हो वह मनुष्य सच्चे अर्थों में चरित्रवान् होता है।

### *व्यक्ति के चरित्रवान् बनने से समाज चरित्रवान् बनता है*

समाज की श्री और शान्ति उसके चरित्रवान सदस्यों से स्थिर रहती है। यदि समाज के सदस्य अच्छे हैं तो समाज भी अच्छा है। यदि सदस्य बुरे हैं तो समाज भी बुरा है। मनुष्य स्वभाव में पशुत्व और देवत्व दोनों होते हैं। पशुत्व के साथ युद्ध और संघर्ष में विजयी रहने वाले व्यक्ति समाज की चेतना तथा राज्य की प्रेरक शक्ति हुआ करते हैं।

महात्मा गाँधी प्रबल ब्रिटिश राज्य के घोर विरोधी थे। वे अंग्रेज शासकों को भाते न थे। इस पर भी ब्रिटिश शासक महात्मा जी के इरादों की ईमानदारी के कायल रहते और उनके व्यक्तित्व का आदर करते थे।

उनके चरित्र और वाणी में प्रभाव और समाज में उनके चरित्र पर विश्वास था। जिस मनुष्य के जीवन और वाणी में चारित्रिक बल हो और जिसके चरित्र पर आबाल, वृद्ध, नर, नारी का विश्वास हो उसे समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए और किसी यत्न की आवश्यकता नहीं होती। अपनी साख पैदा करना जीवन की बड़ी महत्त्व पूर्ण सफलता समझी जाती है। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक इस साख को पैदा करने और इसे बनाए रखने का प्रयत्न होना चाहिए। युवावस्था की तो यह साख जान होती है। जो चरित्र संसार के थपेड़ों में से गुजर कर श्रेष्ठ बनता है, सत् सिद्धान्तों पर आश्रित रहता है, ईश्वर के भय से शासित होता है, निर्वैरिता से अनुप्राणित रहता है और सत्य से ओतप्रोत होता है वह समाज का नेतृत्व किया करता है। समाज का नेतृत्त्व मनुष्य की धन सम्पत्ति और उच्चपद नहीं अपितु चरित्र किया करता है।

*संसार की प्रवृत्ति चरित्र का आदर करने की ओर रहती है*

संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति चरित्र का आदर करने की ओर रहती है। ईसाई जगत् में 'रिचार्ड पाल' एक बड़े सन्त हुए हैं और "नीरो" नाम का एक बड़ा दुष्ट सम्राट हुआ है। ईसाई लोग अपने बच्चों का नाम 'पाल' रखने में गौरव अनुभव करते हैं और नीरो का नाम कुत्तों के लिए रिज़र्व हो गया है।

आज के पैसे के गये गुजरे युग में भी जहाँ प्राय: प्रत्येक वस्तु पैसे के पैमाने से आँकी और जाँची जाती है, जहाँ भौतिक सुख साधनों से युक्त दुराचारी व्यक्ति तथा इन साधनों से विहीन सदाचारी व्यक्ति अवनत और चरित्रहीन समझाजाता है। जन साधारण हृदय से चरित्र का सम्मान करते और अपने बच्चों,गुरुजनों, शासकों और नेताओं को चरित्र की दृष्टि से ऊँचा उठा देखना चाहते हैं। मनुष्य कितना ही योग्य क्यों न हो परन्तु यदि वह चरित्रवान नहीं है तो उसकी योग्यता का कोई मूल्य नहीं होता। मनुष्य की योग्यता

सम्मान से चमकती और चरित्र से मनुष्य सम्मान का अधिकारी होता है।

## चरित्र और कीर्ति

अपने चरित्र की चिन्ता रखने वाले व्यक्ति की चिन्ता उसकी कीर्ति रखती है। चरित्रवान् व्यक्ति को कीर्ति के पीछे भागने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कीर्ति स्वयं छाया की तरह उसके साथ रहती है। कीर्ति का सम्बन्ध अन्यों की सम्मति के साथ होता है। कीर्ति बाहरी और चरित्र भीतरी वस्तु होती है। चरित्र ही तत्व होता है। कीर्ति वही वास्तविक होती है जिसे मनुष्य के हृदय का भी समर्थन प्राप्त हो। इसके लिए आवश्यक होता है कि हम जो कुछ हैं वही दुनिया को दिखाएँ। इससे मानवीय गुण बढ़ते और दृढ़ होते हैं। कीर्ति दूसरों की निन्दा से नष्ट हो सकती है परन्तु चरित्र अपने सिवा अन्य किसी के द्वारा नष्ट नहीं होता। कीर्ति अपने वश की भी बात नहीं होती। कोई भी व्यक्ति यह निश्चय नहीं कर सकता कि दूसरा व्यक्ति उसके विषय में क्या सोचता और क्या कहता। वह यही निश्चय कर सकता है कि दूसरे व्यक्ति को उसके विषय में क्या सोचना और क्या कहना चाहिए ? जीवन में सत्य धारण करने से इस निश्चय के करने में मनुष्य को कठिनाई नहीं होती।

## चरित्र और दशा

दुर्दशाग्रस्त मनुष्य को अपनी दुर्दशा की अपेक्षा अपने चरित्र पर विशेष रखना चाहिए। यदि दुर्दशाग्रस्त मनुष्य चरित्रवान् है तो वह अपनी सच्चरित्रता से अपनी दुर्दशा को सुदशा में परिणत कर लेगा। परिस्थितियाँ सिद्धान्तों की आज्ञा का पालन किया करती हैं। जब निर्धन सुदामा की पत्नी ने अपनी निर्धनता का कारुणिक दृश्य खींचकर धन की याचना करने के लिए श्री कृष्ण के पास जाने का सुदामा से अनुरोध किया तो वे सहसा ही द्वारिका जाने के लिए उद्यत न हुए। उन्हें भूखों मरना सह्य था परन्तु अपने प्रिय मित्र कृष्ण के आगे धन के लिए हाथ पसारना सह्य न था।

उनका जितना ध्यान अपने चरित्र की रक्षा पर था उतना अपनी दुर्दशा पर न था। चरित्र के बलिदान पर अपनी दुर्दशा का अन्त करना उन्हें अपमान जनक लगता था। वे द्वारिका गये परन्तु जब वे खाली हाथ द्वारिका से विदा होने लगे, तब उन्हें इस बात का सन्तोष था, कि उन्होंने कृष्ण के आगे हाथ नहीं पसारा, और उनकी मर्य्यादा की रक्षा हो गई। मर्य्यादा की रक्षा ही से चरित्र की रक्षा होती है !

*सदाचार का सामाजिक और स्वाभाविक माप दण्ड*

कहीं स्त्री पुरुषों का पारस्परिक सार्वजनिक चुम्बन शोभनीय और कहीं अशोभनीय समझा जाता है, कहीं अविवाहित युवक युवतियों का प्रणय प्रसंग उचित और कहीं अनुचित माना जाता है, कहीं चचेरे भाई बहनों और मामा भांजी का विवाह जायज़ और कहीं नाजायज़ होता है, अन्य भी अनेक प्रथाओं को कहीं समाज का समर्थन प्राप्त है, और कहीं नहीं, अतः सदाचार और दुराचार के मध्य विभाजक रेखा का खींचना कठिन है परन्तु सर्वत्र सभ्य समाज में व्यभिचार, बलात्कार माँ, सगी बहिन और बेटी के साथ पिता, पुत्र और भाई का लैङ्गिक सम्पर्क बर्जित और निन्दित है। बहुत से व्यक्ति समाज द्वारा अनुमोदित निकट सम्बन्धियों के साथ विवाह वा लैङ्गिक सम्पर्क को हेय समझकर उससे परहेज करते और समाज तथा युग के विचारों और रीति रिवाजों से ऊपर उठकर अपनी सुधार प्रियता, साहस और सच्चरित्रता का उत्तम परिचय देते हैं। पर पुरुष और पर स्त्री गमन तो प्रायः सर्वत्र निन्दनीय माना जाता है। आर्य सभ्यता में पर पुरुष या पर स्त्री गमन ही न केवल वर्जित है अपितु पारस्परिक स्पर्श भी गर्हित माना जाता है। आर्य सभ्यता का इतिहास पतिव्रत धर्म की रक्षा के लिए नारियों के अनुपम त्याग एवं बलिदान की घटनाओं से जाजल्वमान है। महारानी सीता रावण की कैद में थीं। महात्मा हनुमान ने अशोकवाटिका में उनसे भेंट की। उनकी दुःखद अवस्था का अन्त करने के लिए हनुमान ने

उनसे कहा 'माता ! आप मेरी पीठ पर बैठ जाओ मैं आपको राम के पास पहुँचा दूँगा।' सीताने कहा 'वत्स ! ऐसा न होगा। तुम्हारी पीठ पर बैठने से मुझ से पर पुरुष के स्पर्श का अपराध होगा।''नारी की पवित्रता के प्रति जो स्टैण्डर्ड स्थापित हैं उनमें पर स्त्री में माता की भावना रखना सर्वोच्च स्टैण्डर्ड है। इतिहास इस स्टैण्डर्ड को कायम रखने वालों का यश गान करता है।

महाराज शिवाजी ने शत्रु के एक क़िले पर अधिकार किया था। उन दिनों की युद्ध की प्रथानुसार विजित क़िलों की स्त्रियों पर विजेता का अधिकार हो जाया करता था, और वे सब दासियाँ बनाली जाया करती थीं। इस क़िले के अधिपति की एक परम सुन्दरी पुत्री शिवाजी के सैनिकों के हाथ लगी और वे उसे शिवाजी के दरबार में ले गए। उसे देखते ही शिवाजी अवाक रह गए। और बोले 'ओह' कैसी सुन्दरी यह बालिका है। यदि मेरी माता भी इतनी सुन्दरी होती तो मैं इस तरह का कुरूप न होता।''

रति विषयक सदाचार और दुराचार का सम्बन्ध मनुष्य कृत मर्य्यादाओं से हो सकता है, और उनके कारण सदाचार और दुराचार के माप दंड भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु जिन जातियों में रति विषयक पवित्रता अधिक पाई जाती है समाजका नेतृत्त्व उन्हीं के हाथों में सुरक्षित रहता है। हिन्दू जाति के हाथ में संसार का चारित्रिक नेतृत्व क्यों रहा? उसकी रति विषयक पवित्रता के कारण शुद्ध वृत्ति सत्य, न्याय, दया,परोपकार आदि सदाचार के स्वाभाविक तत्व होते हैं जो मनुष्य कृत नहीं होते। इन गुणों के विकास और आचरण से तथा रति विषयक संयम और पवित्रता के रक्षण से मनुष्य सदाचार की साक्षात् मूर्ति बन जाया करता है।

## चरित्र निर्माण का उपाय

भीतर और बाहर से पवित्र और शुद्ध रहने, प्रसन्न होकर यथा शक्ति पुरुषार्थ करने, हानि लाभ एवं हर्ष शोक में समरस रहने, कष्ट सेवन से

भी कर्म युक्त कर्मों का अनुष्ठान करने, श्रेष्ठ पुस्तकों का पठन पाठन करने और अपनी आत्मा तथा अपने कार्य्यों को ईश्वर के अर्पण रखने से मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति होती है परन्तु सामाजिक उन्नति के विना अकेली वैयक्तिक उन्नति अधूरी होती एवं उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करने वाली नहीं होती इसलिए सामाजिक उन्नति करना भी अनिवार्य है।

वैर भावना को त्यागने, सत्य मानने, सत्य बोलने, सत्य करने, मन वचन और कर्म से चोरी का परित्याग करने, रति विषयक संयम करने स्वत्वाभिमान्, तथा अत्यन्त लोलुपता रहित होने से सामाजिक उन्नति होती है और यह उन्नति भी वैयक्तिक उन्नति के बिना अधूरी होती है। तभी कहा जाता है कि जो व्यक्ति वैयक्तिक जीवन में दुष्टता का आचरण करता हो उससे सामाजिक व्यवहार में श्रेष्ठता का परिचय मिलने की बहुत कम आशा की जाती है। जो घर पर नीच और कमीना रहता हो वह बाहर जाकर उच्च नहीं बन सकता, क्योंकि जगह बदल जाती है मनुष्य तो वही रहता है।

यदि कोई अभाव ग्रस्त व्यक्ति भूख से तड़पता हुआ भी चोरी नहीं करता दूसरों की रोटी छलबल से नहीं छीनता। यदि धनकी चिन्ता से आकुल व्याकुल व्यक्ति दूसरों के धन पर डाका नहीं डालता, दूसरों की धरोहर को सुरक्षित रखकर मांगने पर उसे लौटा देता है, किसी का खोया हुआ धन मिलने पर या दूसरे की किसी भूल के कारण प्राप्त हुए धन या वस्तु को लौटाने के लिए विह्वल हो जाता है, यदि कोई व्यक्ति शरीर से वा नेत्र आदि से अनुचित काम चेष्टा नहीं करता, किसी अनाथ निःसहाय पीड़ित स्त्री बच्चे का उसकी निस्सहायावस्था से लाभ उठाकर सतीत्व भंग नहीं करता, या उसे अपने गर्हित स्वार्थ पूर्ति का साधन नहीं बनाता तो समझ लेना चाहिए कि उस व्यक्ति में स्वाभाविक मानसिक पवित्रता है, जो उसे बहुत सी बुराइयों से बचाए रखती है। जो व्यक्ति अपने बाहुबल और सत्य उपायों

से (छल कपट चोरी, रिश्वत, चोर बाजार से नहीं) धन पैदा करता, अपने घर उसका सदुपयोग करता, बचे हुए धन से चुपचाप पीड़ितों तथा सुपात्रों की सहायता करता, तथा विलासिता का वातावरण उत्पन्न नहीं करने देता वह समाज की बहुत बड़ी सेवा करता है। परमात्मा भरे हुए हाथों को नहीं अपितु पवित्र हाथों को देखता है। जो व्यक्ति मुशीबत में दूसरों के काम आता, जो सुख समृद्धि में अभिमान नहीं करता, अपनी मानवता नहीं खोता, जो अपने शत्रु पर भी उपकार करता, और अपने को दूसरों पर मिटा देता है वह ईश्वर का प्यारा होता है। इस प्रकार के सदाचरण में मनुष्य को 'नेकी कर दरिया में डाल' इस उक्ति को सदव अपने लक्ष में रखना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति रिश्वत नही लेता है तो वह अच्छा करता है परन्तु यदि वह अपने इस आचरण पर अभिमान् करने लग जाय और रिश्वत लेने वालों को उनके मुँह पर बुरा भला कहने लग जाय तो उसके सदाचरण का महत्व कम हो जाता है। प्रत्येक अच्छा काम 'यज्ञ' भाव् में होना चाहिए अर्थात् उसकी ओर से बेखबर रहना चाहिए यह समझकर कि ऐसा करना कर्त्तव्य है। प्रत्येक अच्छा कार्य्य नैतिक चेतना को प्रफुल्लित करता हुआ विश्व भर में परिभ्रमण करता और अन्त में परमपिता परमात्मा में विलीन हो जाता है।

### *छोटी-छोटी बातों में वास्तविक चरित्र का परिचय मिलता है*

मनुष्य के आचार का सर्वोत्तम परिचय छोटी-छोटी बातों से जब वह सावधान नहीं रहता मिला करता है। हम प्राय: नगण्य मामलों में तथा साधारणतम आदतों में असीम अहं भाव का अनजाने परिचय दिया करते हैं जो दूसरों की भावनाओं का जरा भी ख्याल नहीं करता। छोटी-छोटी बातों में स्वभावतया उच्चता का व्यवहार सच्चरित्रता का द्योतक होता है। प्रसिद्ध ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और प्रधान मंत्री डिस्राइली नित्य प्रात: काल ४ बजे उठते थे। जब वे अपने परिजनों या नौकरों को जगाते और वे न

उठते तो स्वयं अपनी चाय बनाने बैठ जाते थे।

## *चरित्र स्वयं अपना रक्षक होता है*

जर जरा सी बातों में अपनी सफाई देने तथा अपने चरित्र की रक्षा करने की आदत नहीं डाली जानी चाहिए। ऐसा करने से चरित्र बलशाली बनने के बजाय कमजोर हो जाता है। साथ ही चरित्र का परिचय देने वा उसका संरक्षण करने के लिए दूसरों का सहारा न लेना चाहिए। स्वयं चरित्र को ही अपना परिचय देना चाहिए। जो चरित्र अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकता उसका संरक्षण दूसरों के द्वारा भी संभव नहीं हो सकता। कम बोलना प्रारंभ किए हुए काम को अधूरा न छोड़ना और प्रतिज्ञा को पूरा करना चरित्र संरक्षण का एक उत्तम उपाय है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में रघुवंशी राजाओं का चारित्र-चित्रण करते हुए ठीक ही लिखा है कि रघुवंशी राजा सत्य की रक्षार्थ बहुत कम बोलते थे और किसी काम को उठाकर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे।

## *मानसिक प्रवृत्ति*

कहा जाता है कि मनुष्य का चरित्र दो बातों का परिणाम होता है एक तो मानसिक प्रवृत्ति और दूसरा समय व्यतीत करने का ढंग। जिस व्यक्ति की वृत्ति ठीक हो और समय व्यतीत करने का ढंग उत्तम हो वह निर्धन होता हुआ भी धनवान होता है और बहुत सी चारित्रिक बुराइयों से बचा रहता है। मनुष्य की वृत्ति के खराब होने का दुष्परिणाम जानना हो तो दुर्योधन और रावण के दुःखद अन्त पर मनन करना चाहिए। दोनों की प्रवृत्तियों के दूषित हो जाने पर जब कि वे सत्य और शुभ के प्रति नितान्त अंधे बन गए थे, समूल नष्ट हो गए। जब राम के अनुरोध पर लक्ष्मण मृत्यु शय्या पर पड़े रावण से उपदेश लेने गए तब रावण ने कहा कि मनुष्य को अपनी वृत्ति ठीक रखनी चाहिए। उसने अपने विनाश का कारण सुमति हीनता बताया था।

### *धर्म्म तत्व बिना चरित्र निर्माण असम्भव*

बिना धर्म्म तत्व के कोई चरित्र पूर्ण हो सकता है ऐसा सोचना बड़ी घातक भूल होती है। उत्तम ज्ञान, उत्तम विचार और उत्तम कर्म्मों से चरित्र बनता है। मानवता से ओत प्रोत बुद्धिसंगत ज्ञान, विचार और कर्म धर्म भावके द्योतक होते हैं।

### *केवल धन या बुद्धि का शासन अशान्तिप्रद*

आज का संसार धन और बुद्धि की दृष्टि से बड़ा समृद्ध है फिर भी अशान्त और दुःखी है इसलिए कि संसार को एकमात्र धन वा एक मात्र बुद्धि या इन दोनों के द्वारा शासित करने की चेष्टा हो रही है। धन और बुद्धि की दौड़ में 'आत्मा' खोया हुआ जान पड़ता है। जबतक चरित्र में मानवता और बुद्धि में धार्मिकता का पुट नहीं लगता तबतक धन वा बुद्धि अथवा इन दोनों का शासन सुख और शान्तिप्रद नहीं बन सकता।

अमेरिका के वुडरो विलसन की कामना थी कि अमेरिका की भावना विशुद्ध हो, अमेरिकन जनता का चरित्र शुद्ध और पवित्र हो तथा धार्मिकता से ओतप्रोत निष्पक्ष विचारों एवं कर्म्मों का परिचायक हो। क्या आज का अमेरिका प्रचुर धनकोष, विपुल साधन सम्पन्नता विशाल अन्न भंडार, अणुवमों, उद्जन वमों तथा युद्ध सामग्री के असीम संग्रह से संसार का आर्थिक और राजनैतिक नेतृत्व हस्तगत करके उसको सुख और शान्ति प्रदान कर सकता है ? आज अमेरिका को उस भावना को अपनाने की आवश्यकता है जिसकी रक्षा अब्राहम लिंकन तथा उन जैसे अमेरिकन महात्माओं ने अपने चरित्र एवं उत्सर्ग से की थी।

### *सुदृढ़ शासन एवं राष्ट्रीय चरित्र*

अच्छे और सुदृढ़ शासन की पहचान यह है कि उसमें कम से कम कायदे कानून प्रचलित हों। अधिक कायदे कानूनों का निर्माण और प्रचलन शासन की दुर्बलता तथा लोगों के निम्न चारित्रिक स्तर का सूचक होता

है। ईश्वरीय कानून पर चलने वाले चरित्रवान् व्यक्तियों को मानवीय कानून से बाँधने की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। कानून द्वारा नियन्त्रित चरित्र का विशेष मूल्य नहीं होता। यही कारण है कि अच्छे शासन कानूनों के निर्माण की अपेक्षा नागरिकों के चरित्र निर्माण पर विशेष ध्यान रखते हैं। राष्ट्रों का गौरव और उसकी सुदृढ़ता नागरिकों की सच्चरित्रता पर अवलम्बित होती हैं। राष्ट्र का जीवन उसकी उर्वरा भूमि, उत्तम जल वायु और भौतिक समृद्धि से नहीं अपितु सच्चरित्र निवासियों से स्थिर रहता है। राष्ट्र का चरित्र उसके नागरिकों के सुकर्मों का समुच्चय होता है।

## उदाहरण

एक विदेशी पर्यटक ने जापान के राष्ट्रीय चरित्र के परीक्षण के लिए १००) के करेन्सी नोटों से भरा हुआ अपना बटुआ उसमें अपने पते की चिट रखकर जान बूझकर वहाँ की एक ट्राम में छोड़ दिया। ट्राम के किसी भी यात्री ने उस बटुए को हाथ न लगाया। अन्त में वह पुलिस के हाथ लगा। पुलिस के दो सिपाही उस बटुए को लेकर पर्यटक के वास स्थान पर गए और आवश्यक छानबीन के पश्चात वह बटुवा पर्यटक को सौंप दिया गया। वह पर्यटक उन दोनों सिपाहियों को पुरस्कार रूपमें ५-५) देने लगा। परन्तु उन्होंने उसे स्वीकार न किया। पर्यटक के अत्यन्त अनुरोध करने पर दोनों ने कहा, "हमने इनाम का कोई काम नहीं किया है अपितु अपनी ड्यूटी पूरी की है। यदि आपका १०) देने का आग्रह ही है तो हमारी 'राष्ट्र रक्षा निधि' में दान दे दीजिए और हमसे रसीद प्राप्त कर लीजिए।" अन्त में पर्यटक को १०) देकर रसीद प्राप्त करनी पड़ी।

बहुत दिन हुए जापान में २ भारतीय सैर के लिए गए हुए थे। एक दिन एक सड़क पर घूमते हुए उन्होंने फलों की एक दूकान से ४ आने में एक सेब खरीदा। जब वे दूकान से कुछ दूर गए तो ६ वर्ष का एक जापानी बालक उनके पास गया और कहा 'यह सेब मुझे दे दो और ४ आने ले

लो।' उन दोनों भारतीयों ने दूकान की ओर संकेत करके कह दिया "जाकर उस दूकान से खरीद लो' परन्तु वह बालक दूकान से सेब खरीदने के लिए तय्यार न हुआ और उसी सेब को खरीदने की हठ करने लगा। बालक की हठ को उन भारतीयों ने ढिठाई समझी और उसे डाट दिया। बालक रोने लगा। उन दोनों को बालक पर दया आई उसे चुमकार कर पूछा 'बेटा ! तुम हमारे सेब को खरीदने के लिए हठ क्यों कर रहे हो !' बालक ने उत्तर दिया "इस सेब का मोल ३ आने है। दूकानदार ने आपको अनजान जानकर आपसे ४ आने ले लिये हैं। जब आपको यह पता लगेगा कि इस सेब का मूल्य ३ आने था तब आप कहेंगे कि जापान के लोग बेई-मान होते हैं। इससे मेरे देश को बदनामी होगी। अपने देश को बदनामी से बचाने के लिए ही मैं आपसे सेब खरीदने की हठ कर रहा हूँ।"

राष्ट्रीय चरित्र किसे कहते हैं, जापान की इन दोनों घटनाओं से यह सहज ही जाना जा सकता है ! राष्ट्रीय चरित्र तब बनता है जब देश का बच्चा २ यह समझे कि देश का यश उसका अपना यश और देश का अप-यश उसका अपना अपयश है।

उसका शरीर देश की मिट्टी से बना और पालित पोषित हुआ तथा उस शरीर पर देश का अधिकार है। देश जब चाहे उस शरीर को मांग कर सकता है।

## चरित्र परीक्षण की विधि

दूसरों के चरित्र का वही व्यक्ति ठीक २ अनुमान लगा सकता है जिसमें अपने चरित्र और स्वभाव में उदारता हो भले ही उसमें अनुभव की कमी हो। दूसरों के चरित्र का चित्रण करते हुए ऐसा ढंग अपनाना चाहिए जिससे उसका वास्तविक और स्वाभाविक चित्रण हो न कि अपने चरित्र का। यदि किसी व्यक्ति का चरित्र जानना हो तो उसके उस ढंग को देखना चाहिए जिससे वह दूसरों के चरित्र का चित्रण करता है।

## आज का अभिशाप

आज का जगत् विचारों में जितना समृद्ध है कर्मों में उतना ही निर्धन है। चरित्र हीनता की सबसे दूषित प्रवृत्ति के कारण मनुष्य ढोंग रचता है सच्चरित्रता का परन्तु व्यवहार करता है दुष्चरित्रता का। 'मन में राम बगल में छुरी' की कहावत उस पर भलीभाँति चरितार्थ होती है। मनुष्य यह देखता है कि मैं क्या हूँ परन्तु यह नहीं देखता कि मैं किस दिशा में गति कर रहा हूँ? मनुष्य के इरादे कितने ही पवित्र क्यों न हों यदि उसके कर्म इरादे के समान पवित्र न हों तो उससे समाज का बड़ा अपकार होता है। यह अव्यवस्था मन की दुर्बलता के कारण उत्पन्न होती है। अतएव मन को दृढ़ और शुद्ध करके कर्त्तव्य कर्म का पालन करने की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

## उदाहरण

एक बार एथेंस (यूनान) नगर में एक बड़ा आकर्षक नाटक होने वाला था। नाटक के आरम्भ होने से बहुत पूर्व ही नाट्यशाला स्त्री पुरुषों से खचाखच भर गई थी। एथेंस का एक बूढ़ा नागरिक दूर से पैदल चलकर नाट्यशाला में प्रविष्ट हुआ और बैठने के लिए स्थान न पाकर प्रवेश द्वार पर खड़ा हो गया। एथेंस के कुछ नवयुवकों ने बूढ़े को खड़ा देखकर उसे अपने पास आने के लिए कहा। भीड़ को चीरता हुआ वह बूढ़ा उन नवयुवकों की सीटों के पास पहुँचा परन्तु किसी ने उसे बैठने के लिए जगह न दी। बूढ़े को बड़ा दुख और वह वहाँ से हट कर उन सीटों की ओर गया जो स्पार्टा के लोगों के लिए नियत थी। बूढ़े को खड़े देखकर स्पार्टा के कुछ नवयुयक खड़े हो गए और एक नवयुवक ने उस बूढ़े को सम्मान पूर्वक अपनी सीट पर बिठा लिया। बैठते समय बूढ़े ने चिल्लाकर कहा "एथेंस के नवयुवक यह जानते हैं कि कर्तव्य क्या है और स्पार्टा के नवयुवक यह जानते हैं कि कर्त्तव्य का पालन किस प्रकार किया जाता है।"

## मन पर अच्छी छाप डालो

मन पर अच्छी छाप पड़ने से, तप, संयम एवं धैर्य का आचरण करने से आत्मा बलवान बनता है। अच्छी छाप अच्छे ज्ञान से, अच्छी संगति से, अच्छी बातों को देखने और सुनने से, पड़ती हैं।

अच्छी संगति में रहने और अच्छी बातचीत करने सुनने और देखने से मनुष्य गुणवान् बनता है। अतः अच्छी संगति में रहने में मनुष्य को विशेष सावधान रहना पड़ता है। बिना सोचे समझे, जाने परखे यों ही एक दम किसी को साथी न बनाना चाहिए। जिन लोगों को संसार का अनुभव हो, जिन्हें मनुष्य की पहचान हो, जो बात-व्यवहार को भली भाँति जानते समझते हों जो आवश्यकता पड़ने पर अच्छी सलाह दे सकते हों ऐसे लोगों को साथी बनाना चाहिए। जिनके विचारों, सिद्धान्तों और मन्तव्यों के विषय में हम निश्चित न हों उन पर सहसाही विश्वास न कर लेना चाहिए। जिस संसर्ग से मनुष्य की बुद्धि को सत्प्रेरणा न मिलती हो और हृदय विशाल बनने के स्थान में संकुचित बनता हो उस संसर्ग से दूर रहना चाहिए। मनुष्य का सर्व श्रेष्ठ साथी वह होता है जो सीधा-सादा, निष्कपट आडम्बर शून्य हो, जिसका बनावटी बड़प्पन अत्याचार न करने वाल हो, जो जीवन को प्यार करता और उसका सदुपयोग करना जानता हों हर समय विनम्र रहता हो, जिसका स्वभाव शुद्ध, मधुर और सत्प्रेरणा मय हो और जो चट्टान की तरह सत्य पर दृढ़ रहता हो।

## चरित्र और साहित्य

चरित्र निर्माण में साहित्य का बहुत बड़ा योग होता है। बुरे और गन्दे साहित्य को पढ़ने से मन पर बुरा प्रभाव और अच्छे साहित्य को पढ़ने से अच्छा प्रभाव पड़ता है। बुरे साहित्य की तुलना शराब के साथ की जाती है उसमें न तो पोषक तत्व मिलता है और न दवाई! इनसे शरीर और दिमाग दोनों खराब हो जाते हैं। इन दोनों के खराब हो जाने से आत्मा विकृत हो जाता है। अच्छी पुस्तकें अच्छे मित्र के समान होती

हैं। मित्रों के चुनाव के सदृश ही पुस्तकों के चुनाव में सावधानता बर्त्तनी चाहिए। मित्र और पुस्तकें कम से कम और अच्छे से अच्छे चुनने चाहिएँ। अच्छी पुस्तकें आत्मा की औषधि होती हैं। जो पुस्तक विशेष आशा के साथ खोली जाय और प्रसन्नता एवं लाभ प्राप्त करने के बाद बन्द की जाय वह उत्तम होती है।

जो पुस्तक बुद्धि, पवित्रता और उपयोगिता बढ़ाने वाली हो जिसमें मानवता प्रतिष्ठित हो और जो उच्चादर्शों पर चलने की प्रेरणा देती हो वही पुस्तक उत्तम समझी जाती है। उत्तम धर्म ग्रन्थ तथा महा पुरुषों के जीवन अवश्य पढ़ने चाहिएँ।

जीवन का सबसे पहला खतरा 'खाली दिमाग' माना जाता है। कहावत भी है 'खाली दिमाग शैतान का घर होता है' बुराई से बचने का सबसे सरल और अचूक उपाय यह है कि उसे अच्छे काम में लगाया जाय अथवा अच्छा साहित्य पढ़ा जाय।

डेनियल वेबस्टर ने अपने देश बासियों को एक दूर दर्शिता पूर्ण चेतावनी दी थी। उन्होंने कहा था 'यदि देश की प्रजा में धार्मिक साहित्य का प्रचार न किया गया और जन साधारण धर्म परायण न बने तो देश का पतन अवश्यम्भावी है। उन्होंने प्रत्येक देशभक्त से इस बात पर गंभीरता पूर्वक विचार करने का अनुरोध किया। यदि लोग परमात्मा और उसकी वाणी (वेद ज्ञान) से अनभिज्ञ रहे और उनमें उनका स्वागत न हुआ तो शैतान मनचाहा नाच नचाने लगेगा। यदि प्रत्येक झोंपड़े तक धार्मिक साहित्य न पहुँचा तो अश्लील और उश्रृंखल साहित्य का बोल-बाला हो जाएगा। यदि देश के कोने कोने में धार्मिकता की अनुभूतियों की शक्ति का अनुभव न हुआ तो अराजकता, कुशासन, पतन, दुःख, भ्रष्टाचार और अंधकार व्याप्त हो जायगा जिसका निवारण दूभर हो जाएगा।'' यह दुर्व्यवस्था अन्यत्र कहीं व्याप्त हो या न हो इस समय भारतवर्ष में तो

व्याप्त ही है। हमारी धर्म्म निरपेक्ष सरकार को अश्लील साहित्य और चित्रों की उत्पत्ति आयात, सार्वजनिक प्रदर्शन और प्रसार को कड़े हाथों से रोककर सत्साहित्य के सृजन और प्रचार में योग देकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।

## मनोरंजन

जीवन की योजना में स्वस्थ शिक्षाप्रद और निर्दोष मनोरंजन का विशेष स्थान होता है। निर्दोष मनोरंजन वह होता है जिससे संयम पूर्ण कंपन उत्पन्न होता हो, जिससे मनुष्य में ताजगी आए, थकावट पैदा न हो, जो कभी २ आयोजित हों, जो मनुष्य को उत्साह के साथ दिन के काम में लगाए जिसका सम्मानित व्यक्तियों की उपस्थिति में आनन्द उठाया जा सके, जिसमें कृतज्ञता पूर्ण पवित्रता भरी हो, जो आत्मसम्मान के भावों से युक्त हो और जो इस अनुभूति से परिपूर्ण हो कि जीवन का उद्देश्य मनोरंजन से ऊंचा होता है। इस समय मानव समाज के मनोरंजन का प्रधान साधन सिनेमा है। सिनेमा के चित्रों की गन्दगी के कारण वातावरण इतना दूषित हो चुका है कि उसमें शिष्टता का गला घुट रहा है, चरित्र का दिवाला निकल रहा है और भले आदमी भी पथ भ्रष्ट हो रहे हैं।

मनुष्य ने सृष्टि के प्रभात में यह कामना की कि हम अच्छी बातें देखें और अच्छी बातें सुनें। क्या चित्रपट पर दिखाए जाने वाले लूट मार तथा सार्वजनिक स्थानों पर प्रदर्शित होनेवाले, कत्ल, डकैती, आलिंगन, चुम्बन आदि के कुरुचि पूर्ण अशोभन दृश्यों और रेडियो आदि पर लाए जाने वाले अश्लील, भद्दे, और लज्जाजनक गीतों को सुनने सुनाने से हमारी कामना पूरी हो सकती है?

## वेष भूषा

अस्वाभाविक एवं विलासिताजन्य वेष भूषा मानव की कुरुचि की बड़ी दुःख एवं लज्जाजनक कहानी है।

गन्दे चित्रों से अङ्कित कपड़ों का उत्पादन, आयात और प्रयोग तो राष्ट्र की शिष्ट भावना पर करारा चपत और औद्योगिक पतन की पराकाष्ठा है। जो लोग वेष भूषा को ही सभ्यता, का परिचायक मानते हैं वे बड़ी गलती पर हैं। 'सच्चरित्रतामय सादा जीवन और उच्च विचार' ही सभ्यता का वास्तविक चिन्ह होता है।'

स्वामी विवेकानन्द अमेरिका में प्रचार कार्य कर रहे थे। एक दिन उनके एक अमेरिकन प्रशंसक ने उनसे कहा "मैं आपके गुरु को देखना चाहता हूँ जिसने आप जैसा योग्य शिष्य पैदा किया है" स्वामी जी ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और उसको साथ लेकर भारत आए। जब उस अमेरिकन ने रामकृष्ण परमहंस के दर्शन किए तो उसे बड़ी निराशा हुई। उसने खिजकर विवेकानन्द जी से कहा "क्या यही जंगली आदमी आपका गुरु है जिसे कपड़े पहनने का शऊर तक नहीं है। यह क्योंकर सभ्य कहा जा सकता है?" स्वामी विवेकानन्द मुस्कराए और कहा "तुम्हारे (अमेरिका) देश में दर्जी सभ्य पुरुष का निर्माण करता है और हमारे (भारत) देश में उच्च आचार-विचार सभ्य पुरुष का निर्माण करता है।"

### *खान-पान*

खान-पान का चरित्र पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। शराब, भाँग, चरस, गाँजा, अफीम आदि मादक द्रव्यों के सेवन, मिर्च, खटाई, मसाले आदि उत्तेजक पदार्थों के भक्षण से काम वासना अनेक बुराइयों के साथ अमर्यादित बनकर शरीर और चरित्र को बड़ा धक्का पहुँचाती है। अतः तामसिक पदार्थों के खाने और सेवन करने से परहेज रखकर भोजन को जीवन यात्रा का साधन बनाना चाहिए न कि ध्येय ध्येय बनने से ही खराबी पैदा होती है।

### *जीवन को मधुर बनाओ*

सच्चारित्रता से जीवन में मधुरता और स्वच्छता आती है जिसकी मनोहर गंध से उसके संपर्क में आने वाले व्यक्तियों के जीवन की दुर्गन्ध दूर

नहीं देते" यह सुनकर माता ने कहा "विद्यासागर की माँ के हाथों की शोभा सोने चाँदी के जेवरों से नहीं वरन् दीन दुखियों और अशक्तों को भोजन बनाकर खिलाने में है।" यह घटना उस समय की है जब वे अकाल पीड़ितों की सेवा में निरत थीं।

अतएव मनुष्य को इन्द्रियों को बलवान एवं यशस्वी बनाकर अपने को ऐसा बनाना चाहिए जिससे दूसरे व्यक्ति उसके सामने चरित्र हीनता सूचक बात करने तक में हृदय से लज्जा अनुभव करें।

### *चरित्रवान ही जीवन में सफल होते हैं*

जब हम जीवन में भौतिक दृष्टि से सफ़ल देख पड़ने वालो को दुःखमय निकम्मी मौत और भौतिक दृष्टि से असफल जान पड़ने वालों को शान्त एवं राजोचित मौत मरते हुए देखते हैं तब हम पर चारित्रिक सम्पदा की विशिष्टता अंकित हुए बिना नहीं रहती, मनुष्य की वास्तविक सम्पदा और जायदाद आत्मिक उन्नति होती है, बड़े-बड़े महल, राजप्रासाद, उच्च पद, सम्मानित परिवार वा सम्बन्धी नहीं होते। यही साम्राज्य है जो चरित्रवान् व्यक्ति बनाते और उसमें निवास करते हैं। अतः हम सबको इस साम्राज्य का निर्माण करना चाहिए। इसी में व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण है।

# मृत्यु

शरीर के साथ जीव के संयोग को जन्म और वियोग को मृत्यु कहते हैं। जो जन्म लेता है वह अवश्य मरता है और जो मरता है वह अवश्य जन्म लेता है। इस प्रकार जीना मृत्यु की तैयारी होती है और मरना नए जीवन में जन्म होने का सूचक होता है। जन्म और मृत्यु इन दोनों पर मनुष्य का अधिकार नहीं होता। हम सबको मृत्यु का कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि वह मनुष्य की अल्पज्ञता और अज्ञान को उसपर स्पष्ट कर देती है।

प्रत्येक मनुष्य जन्म और मृत्यु की दृष्टि से समान होता है। मृत्यु के पाश से कोई भी नहीं बचता चाहे वह राजा हो वा रंक, शासक हो वा शासित, शोषक हो वा शोषित, स्वामी हो वा दास। मृत्यु शय्या पर पड़े प्रत्येक व्यक्ति को मृत्यु आने पर अपने जीवन भर का स्वरूप प्रतिलक्षित हो जाता है! उस समय प्राणी को अपने तथा परमात्मा के वास्तविक सम्बन्ध का भी भान हुए बिना नहीं रहता!

महान् सिकन्दर ने तत्ववेत्ता डाइगनीज को मानवीय हड्डियों के एक पार्सल को ध्यान पूर्वक देखते हुए पूछा "आप क्या चीज देख रहे हैं?" तत्ववेत्ता ने उत्तर दिया "जो वस्तु मुझे ज्ञात नहीं हो रही है।" सिकन्दर ने फिर "पूछा आपको क्या वस्तु ज्ञात नहीं हो रही है?" तत्ववेत्ता ने कहा "तुम्हारे पिता और उनके नौकरों की हड्डियों के मध्य भेद।"

एक स्त्री का इकलौता बेटा मरा। वह पुत्रशोक से विह्वल हो उसकी लाश को लेकर महात्मा बुद्ध के पास गई और उनसे प्रार्थना की कि इसे जिलादो! महात्मा ने कहा "मैं तुम्हारे पुत्र को जिला दूँगा तुम उस घर से मिट्टी ले आओ जिसमें कभी कोई व्यक्ति न मरा हो!" वह स्त्री तमाम गाँव में घूम आई परन्तु उसे ऐसा कोई घर न मिला जिसमें कभी किसी की

मौत न हुई थी। इस निराशा से उसे यह उदबोधन हुआ कि मृत्यु के चंगुल से कोई नहीं बचता और इसी से उसे सान्त्वना प्राप्त हुई। वस्तुतः प्रिय वस्तुओं के वियोग से दुःख होता है और यही स्वार्थ भावना मृत्यु को भयावना रूप दे देती है। अन्यथा मृत्यु जैसी व्यापक और अवश्यम्भावी घटना परमात्मा के द्वारा, मानव जाति के लिए अभि-शाप बने यह समझ में आने वाली बात नहीं है। पत झड़ समय पर होता है। फूल समय पर मुर्झाते हैं और सितारे समय पर छिपते हैं। परन्तु मृत्यु का कोई मौसम नियत नहीं होता। मनुष्य को मृत्यु कहीं भी पकड़ सकती है अतः प्रत्येक स्थान पर मरने के लिए तय्यार रहने में ही बुद्धिमत्ता है।

मृत्यु बड़ी सुहावनी और आनन्दप्रद होती है। मनुष्य अपना जीवन भार सुन्दरता से संभाल सके इसीलिए उसका सुख और आनन्द मनुष्य से ओझल रखा जाता है। यदि मनुष्य की मृत्यु न हुआ करती तो उसे जीवन असह्य हो जाया करता और वह जीवन की उच्च प्रेरणाओं की उपेक्षा किया करता। यह तो कैदी की बेड़ियों को खोलकर उसे आजाद करने और अपरमित आनन्द के स्रोत का मार्ग निदर्शन करने वाली अनूठी वस्तु होती है।

ठीक कहा जाता है कि मृत्यु के पश्चात् ही जनता मनुष्य के गुणों का मूल्यांकन और उसके स्थान में उसके गुणों का आदर करती है। इस प्रकार मृत्यु कीर्ति का द्वार खोलती है और ईर्ष्या द्वेष का द्वार बन्द कर देती है। लोग प्रायः मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त उसके प्रति ईर्ष्या द्वेष के भावोंसे शून्य हो जाया करते हैं। लौकिक दृष्टि से मृत्यु उस व्यक्ति की मुक्तिदाता होती है जिसे स्वतंत्रता मुक्ति नहीं दिला सकती। उसका चिकित्सक होती है जिसका रोग औषधियों से दूर नहीं होता। उसकी सान्त्वना दातृ होती है जिसे समय दिलासा नहीं दिला सकता।

मृत्यु से कौन नहीं डरता? जो हर समय मरने के लिए तय्यार रहता

है वह मृत्यु से नहीं डरता। जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को सुन्दर रीति से निभाहता और अच्छा जीवन व्यतीत करता है वह मृत्यु की तय्यारी की दिशा में ठोस कदम बढ़ाता है। मृत्यु की तय्यारी में हमें जरा भी असावधानता न करनी चाहिए। जो व्यक्ति परमात्मा की सेवा में निमग्न रहते हैं वे परमात्मा के आह्वान पर हर समय यहाँ से जाने के लिए तय्यार रहते हैं। वे अपना जीवन इस प्रकार व्यवस्थित और व्यतीत करते हैं जिससे प्रत्येक क्षण उन्हें मृत्यु का आलिंगन करने की फुर्सत होती है। मृत्यु के लिए हर समय तैयार रहने का एक फल यह भी होता है कि मनुष्य बहुत-सी बुराइयों और प्रलोभनों से बच सकता है। एक अच्छे ईश्वर भक्त आदमी से जब उसकी अन्तिम बीमारी में पूछा गया कि क्या वह मृत्यु का अनुभव कर रहा है तो उसने उत्तर दिया कि 'मित्र मैं जीवित रहूँगा या नहीं इसकी मुझे चिन्ता नहीं हैं क्योंकि यदि मैं बच गया तो मैं परमात्मा के साथ रहूँगा और यदि मैं मर गया तो परमात्मा मेरे साथ रहेगा।'' अच्छे आदमी नहीं मरते अपितु बुरे व्यक्ति ही मरते हैं। अच्छे व्यक्ति मरने पर धूल में से उठकर यश की सोपान पर पैर रखते हैं।

मृत्यु से वे व्यक्ति डरते हैं जो ममता मोह के वशीभूत हो संसार से चिपटे रहते हैं, जो उससे तंग रहते अथवा जो अपनी धन सम्पदा से निश्चिन्त रहकर भोग विलास और ऐन्द्रिय आनन्द में निमग्न होकर मृत्यु की जरा भी तय्यारी नहीं कर पाते। धन सम्पदा की अपेक्षा चरित्र में मृत्यु की तय्यारी की अधिक क्षमता होती है। जो व्यक्ति संसार के भोगों में केवल प्रयोगाधिकार समझते हैं उन्हें मृत्यु से भय नहीं लगता। भय उन्हें लगता है जिन्हें मृत्यु उन भोगों और पदार्थों से बलात् छुड़ाती है।

मनुष्य का प्रातः काल बाल्यावस्था में और अन्त बुढ़ापे में होता है। मृत्यु आराम देने, बुढ़ापे रूपी थकान को दूर करने और मनुष्य को नव-जन्म रूपी नया जीवन, उत्साह और पुरुषार्थ देने वाली होती है।

फिर वह कष्टप्रद क्योंकर हो सकती है ? इंग्लैण्ड के एक डाक्टर ने परीक्षण किया कि मृत्यु दुःख देने वाली है या नहीं? उनकी आयु ६३ वर्ष की थी। उन्होंने परीक्षण के लिए ऐसा जहर तय्यार किया जिससे मृत्यु धीरे-धीरे हो। उन्हों ने जहर पी लिया परीक्षण करने लगे और परीक्षण को एक नोट बुक में लिखने लगे। उन्होंने अपनी नोट बुक में लिखा :—

Japs are right. Death is lovely. I feel no pain.

अर्थात् जापानी ठीक कहते हैं। मृत्यु प्यारी है।

अन्त समय में ईश्वर का स्मरण करने की शिक्षा दी जाती है। क्यों ? मनुष्य-जीवन दो भागों में बांटा हुआ है। वे भाग ये हैं :—

(१) मृत्यु से पूर्व का
(२) मृत्यु शय्या का

जब मनुष्य पहले भाग में होता है तब उसे कर्म करने की पूरी स्वतंत्रता होती है परन्तु मृत्यु शय्या पर पड़ जाने पर यह स्वतंत्रता छिन जाती है। दूसरा भाग पहले भाग का चित्र होता है अर्थात् मृत्यु से पूर्व की परिस्थितियों और प्रभावों का मृत्यु शय्या का भाग फोटो होता है और यही फोटो संसार के सामने आ जाया करता है। अतः जीवन के पहले भाग में अर्थात् मृत्यु से पूर्व मनुष्य को अच्छे कर्म करने चाहिएँ।

महमूद गजनवी गजनी का राजा था। उसने भारत पर कई बार चढ़ाई की थी। उसके जीवन का उद्देश्य किसी भी रीति से धन संग्रह करना था। उसने गजनी को सोने चांदी से भर दिया था। यहाँ उसके जीवन का प्रथम भाग समाप्त होता है। अब हम उसे दूसरे भाग में अर्थात् मृत्यु शय्या पर देखते हैं। मरते समय वह सोने चांदी के ढेर अपने सामने लगवाता है। उस ढेर पर दृष्टि दौड़ाता है। उसी क्षण उसके मन में एक विचार उठता है कि मेरी ही आज्ञा से ये ढेर लगे हैं परन्तु अब यदि मैं चाहूँ

तो इस ढेर में से जरा भी अपने साथ नहीं ले जा सकता। जब विवशता देखी तो रो पड़ता है और धन पर दृष्टि रखे हुए ही यहाँ से विदा हो जाता है। भाव यह है कि जिस प्रकार जीवन पर्यन्त उसकी दृष्टि धन पर रही उसी प्रकार अन्त समय में भी धन पर ही रही।

फ्रांस का राजा पीटर था। वह धर्मात्मा था। यरुशलम तुर्कों के अधिकार में चला गया था। यह वह समय था जब यरुशलम की प्राप्ति के लिए ईसाई लोग धर्म्म युद्ध कर रहे थे। पीटर भी यरुशलम की प्राप्ति के लिए कई लड़ाइयाँ लड़ चुका था। परन्तु सब में हार गया था। उसके जीवन का उद्देश्य यरुशलम की प्राप्ति था। उसके जीवन का पहला भाग समाप्त हो जाता है। वह मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ है। उसे उस समय न देश की चिन्ता थी और न उतराधिकारी की। उसे चिन्ता थी तो एक थी और वह थी यरुशलम की प्राप्ति की। वह तीन वार 'यरुशलम' का उच्चारण करते-करते संसार से विदा हो गया।

महाराणा प्रताप भारत के एक चमकते हुए रत्न थे। चित्तौड़ और उदयपुर उनके अधिकार से निकल चुके थे। उनकी प्राप्ति उनके जीवन का ध्येय बना। अकबर से युद्ध किया, बड़े से बड़ा त्याग किया और अन्त में चित्तौड़ और उदयपुर प्राप्त किए। यहीं उनके जीवन का पहला भाग समाप्त होता है। वे मृत्यु शय्या पर पड़े थे। उनके निकट सरदार गण खड़े थे। सरदारों ने उस समय एक बड़ी आश्चर्य जनक बात देखी। उन्हें महाराणा की दशा एक लोभी व्यक्ति जैसी देख पड़ी। सरदारों को कारण समझ में न आता था। उन्होंने पूछा 'महाराज' क्या हाल है!" महाराणा ने कहा, "सरदारों मुझे विश्वास दिलाओ कि मेवाड़ उसी प्रकार स्वतंत्र रहेगा जिस प्रकार कि मैंने स्वतंत्र रखा है।" सरदारों के विश्वास दिलाते ही बड़े सुख से महाराणा के प्राण निकल गए।

स्वामी दयानन्द का जीवनोद्देश्य वेद प्रचार करना और प्रजा को आस्तिक

बनाना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने बड़े-बड़े कष्ट सहन किए और बड़े से बड़ा त्याग किया। वे मृत्यु शय्या पर पड़े हैं। दूर-दूर से लोग आए हुए हैं। उन्हीं में पं० गुरूदत्त विद्यार्थी भी हैं। स्वामी जी सब को अपनी आँखों के पीछे कर देते हैं। पं० गुरूदत्त स्वामी का अन्त समय देखने के लिए उत्सुक हैं! वे ऐसे स्थान पर खड़े हो जाते हैं जहाँ से वे स्वामी जी को भली भाँति देख सकें। स्वामी जी वेद मन्त्रों का उच्चारण करते और गायत्री का पाठ करते हैं। गुरूदत्त की दृष्टि स्वामी जी के मुख पर है। स्वामी जी प्रसन्न वदन हैं। गुरुदत्त पक्के नास्तिक थे। उनके मस्तिष्क में लाप्लास जैसे विज्ञान वेत्ता घर किए हुए थे जो नास्तिक थे और कहते थे कि उन्हें अपनी सफल से सफल रचनाओं और आविष्कारों में ईश्वर की कहीं आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई। प्राण त्यागने से पूर्व स्वामी जी के चेहरे पर एक मुस्कराहट आती है। वह मुस्कराहट दिव्य थी। उसी पर गुरुदत्त मुग्ध हो जाते हैं और नास्तिक से आस्तिक बन जाते हैं। स्वामी दयानन्द "प्रभो! तेरी इच्छा पूर्ण हो," यह कहकर प्राण त्याग देते हैं।

वस्तुतः मृत्युकाल परीक्षा काल होता है। इसमें सफलता प्राप्त करना मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए पूरी-पूरी तय्यारी होनी चाहिए। जब मनुष्य मरने लगे तो वह इतना ऊँचा उठा होना चाहिए जिससे वह अपने को सर्वथा परमात्मा के हाथों में सौंपा हुआ समझे और यह अनुभव करे कि परमात्मा की इच्छा ही मेरी इच्छा है उसी की इच्छा सर्वोपरि है। वही सन्मार्ग प्रदर्शक है। वही आदि गुरू हैं। वही महान् शिक्षक है। उसी का आश्रय लेने से बेड़ा पार हो सकता है। इसलिए सब कुछ यत्न करके भी अन्त में उसी का सहारा लेना चाहिए। इसी में मानव का कल्याण है!

# ज्ञान

ज्ञान का महत्त्व इसी में है कि वह हमें सत्कर्म में प्रेरित होने के योग्य बनाए।

ज्ञान बल समझा जाता है। निस्सन्देह ज्ञान से बल बढ़ता है परन्तु इस बल की उपयोगिता उसके प्रयोग पर निर्भर होती है। ज्ञान के बल का गलत प्रयोग होने से बड़ा अहित और विनाश होता है। घातक युद्ध सामग्री के निर्माण में भौतिक ज्ञान का घोर दुरुपयोग इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। भौतिक विज्ञान से मनुष्य को भौतिक सुख और सुविधाओं की प्राप्ति हो सकती है परन्तु आत्मिक आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि आत्मिक आनन्द भौतिक विज्ञान की सीमाओं से बाहर की वस्तु होती है। भौतिक विज्ञान तो हाथों से छुई और आँखों से देखी जाने वाली वस्तुओं की ही ऊहा पोह कर सकता है। आत्मिक आनंद भीतर की वस्तु होती है। भौतिक विज्ञान के आधुनिक चमत्कारों और आविष्कारों ने प्रकाश तो प्रदान किया परन्तु गर्मी प्रदान न की। ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है और मानवता से अनुप्राणित धर्म्म मार्ग में प्रेरित बुद्धि के द्वारा ही ज्ञान विज्ञान का सदुपयोग संभव होता है। बुद्धि के अधर्म मार्ग में प्रेरित होने के कारण भौतिक विज्ञान के चमत्कार गर्मी प्रदान करने वाले सिद्ध नहीं होते हैं। अपना, संसार का और परमात्मा का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके अपना जीवन सुखी और समृद्ध बनाना तथा संसार के योग क्षेम में बड़े से बड़ा योग देते हुए ज्ञान के पंखों के सहारे परमात्मा की ओर उड़ जाना मनुष्य का परम लक्ष्य होता है। निर्मल ज्ञान और उस ज्ञान के शुभ कर्मों में परिणत होने से ही लक्ष्य की सिद्धि होती है।

न्यूटन कहा करते थे कि "मैं ज्ञान के अथाह सागर के तट पर खड़ा हूँ।

उसमें गोता लगाने पर मुझे कुछ सीप ही मिल पाते हैं।" यह कथन न्यूटन जैसे महान् विद्वान के अनुरूप ही था। ज्ञानवान् व्यक्ति विद्या विज्ञान की समुपलब्धि कर लेने पर उसी प्रकार विनम्र बन जाते हैं जिस प्रकार फलों के बोझ से वृक्ष झुक जाता है। ज्ञान की उपलब्धि के साथ-साथ मनुष्य को अपने अज्ञान का बोध होने लगता है। अज्ञान की यह अनुभूति ही ज्ञान प्राप्ति की दिशा में पहला पग होता है। मनुष्य विश्व की पहेली हल करने के लिए उत्पन्न नहीं होता अपितु अपने कर्त्तव्यों को जानकर अपनी अल्पज्ञता और सीमित ज्ञान की परिधि के भीतर रहते हुए उनके सम्यक् अनुष्ठान के लिए उत्पन्न होता है। कुछ लोगों की दृष्टि में ज्ञान का ध्येय कौतूहल की सन्तुष्टि कुछ की दृष्टि में कीर्ति की उपलब्धि कुछ की दृष्टि में वाद-विवाद के आनंद की प्राप्ति और कुछ की दृष्टि में जीविका की सिद्धि होता है परन्तु सच्चाई इसके विपरीत है। ज्ञान का वास्तविक उद्देश्य मानव का सर्वतोमुखी विकास और मनुष्य को परमात्मा की सर्वोत्तम कृति बना रखना होता है।

जो व्यक्ति अपनी अल्पज्ञता को अनुभव करता और ज्ञान प्राप्ति में लज्जा अनुभव नहींकरता वही ज्ञान प्राप्ति में अत्यधिक सफल होता है। एक बार अमेरिका के एक अत्यन्त ज्ञानवान् व्यक्ति से जब यह पूछा गया कि उसे प्रत्येक वस्तु के विषय में इतना अधिक ज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ तो उसने उत्तर दिया कि "निरन्तर अपनी अज्ञानता को अनुभव करने और शंकाओं के निवारण में भय, लज्जा या संकोच अनुभव न करने से मुझे इतना ज्ञान प्राप्त हुआ है।"

ज्ञान की अत्यन्त कठिन साध्य कार्य होता है। शुद्ध जल की प्राप्ति के लिए बड़े परिश्रम से भूमि को गहरा खोदना पड़ता है परन्तु मीठे जल का स्रोत निकल आने पर वह ऊपर उठता और मन चाहा जल प्रदान करता है। एक राजा ने यूकलिड से पूछा कि क्या आप ऐसा मार्ग बता

सकते हैं जिससे ज्यामिति बिना परिश्रम किए सीखी जा सकती है। युक्लिड ने उत्तर दिया कि ज्यामिति सीखने के लिए कोई राज मार्ग नहीं है। अन्य वस्तुएँ धन से क्रय की जा सकती हैं, छल-बल से छीनी जा सकती हैं परन्तु ज्ञान तो न क्रय किया जा सकता और न छीना जा सकता है। यह तो परिश्रम पूर्वक एकान्त में अध्ययन और सतत परिवेक्षण से ही उपलब्ध हो सकता है। विद्या विज्ञान के साम्राज्य की यह विशेषता है कि उसकी सम्पदा के नष्ट होने का भय नहीं रहता। ज्ञान प्राप्ति में यह न देखना चाहिए कि वह किस स्रोत से प्राप्त होता है। जिस स्रोत से भी ज्ञान प्राप्त हो सके प्राप्त करना चाहिए चाहे वह मूर्ख से या विद्वान से, धनवान् से या निर्धन से चेतन से वा अचेतन से प्राप्त हो।

ज्ञान को स्मृति में रखना और उसे व्यवहार की वस्तु बनाना ये भिन्न बातें हैं। स्मृति में सुरक्षित ज्ञान पर मनुष्य का अधिकार होना वा रहना संभव नहीं होता अनुभव में आने पर ही ज्ञान पर अधिकार प्राप्त होता है। दूसरों को सिखाने से भी ज्ञान की वृद्धि और उस पर अधिकार की प्राप्ति होती है। ज्ञान ही ऐसी वस्तु होती है जो खर्च करने पर भी बढ़ती है। ज्ञान को छुपाकर अथवा अपने तक रखने से इसका महत्त्व और शोभा घट जाते हैं। जिस प्रकार मूल्यवान् मणि की कान्ति छुपाकर रखने से नष्ट हो जाती है उसी प्रकार ज्ञान को छिपाकर रखने से उसकी कान्ति जाती रहती है। ज्ञान-दीपक से दूसरों के दीपक जल जायँ तो इसमें हानि ही क्या है ?

मानवीय परिश्रम और शक्ति की सीमा होती है। बुद्धिमत्ता इसी में है कि मनुष्य अपना परिश्रम, समय, और शक्ति उस काम के सीखने में लगाए जिसके लिए वह उपयुक्त हो। किसी व्यक्ति के जीवन का परिचय, पाने के लिए केवल यह जानना आवश्यक नहीं है कि वह क्या करता है

अपितु यह भी जानना आवश्यक है कि वह जानबूझकर किन कामों को नहीं करता।

विभाजन के फल स्वरूप जब मजहबी पागलपन भारत और पाकिस्तान को रक्त की होली खिला रहा था मुलतान में हत्यारों के हाथों से बचने के लिए एक हिन्दू एक मुसलमान के घर में घुस गया। घर में उस समय घर की मालकिन केवल एक बुढ़िया ही विद्यमान् थी। बुढ़िया ने दयावश उस हिन्दू को घर में छुपा दिया और हत्यारों के आने पर कह दिया कि इस घर में कोई हिन्दू नहीं आया है। हत्यारों ने बुढ़िया के शिर पर कुरान रखकर कसम खिलाई। बुढ़िया ने खाली। २-३ दिन के पश्चात् जब हत्यारों को बुढ़िया के झूठ बोलने का पता लगा तो वे आग बबूला होकर उसके पास गए और उस पर कुरान की तौहीन करने का आरोप लगाया। बुढ़िया ने कहा 'तुम मुझे कुरान में यह लिखा हुआ दिखाओ कि पनाह लेने वालों को मौत के घाट उतारा जाय। इन्सानियत भी तो कोई चीज होती है।" बुढ़िया की इस बात का उनसे कोई जवाब न बना और वे अपना-सा मुँह लेकर चले गए।

इस घटना से स्पष्ट है कि दया विहीन धर्म्म मतान्धता होती है इसी भाँति सहज बुद्धि बिना ज्ञान मूर्खता, व्यवस्था बिना बर्बादी और मानवता बिना मृत्यु होती है। सहज बुद्धिमय ज्ञान बुद्धिमत्ता, व्यवस्था मय शक्ति, उदारतामय उपकार और धर्म्ममय गुण, जीवन और शान्ति होता है। पंचतंत्र की चार विद्वान मूर्खों की कहानी से हमारे बहुत से पाठक परिचित होंगे। वे चारों एक साथ धन कमाने के उद्देश्य से परदेश को निकले। मार्ग में उन्हें एक सिंह की हड्डियाँ बिखरी हुई दिखाई पड़ीं। उनमें से तीन ने उन हड्डियों को जोड़कर सिंह को जीवित करने में अपनी-अपनी विद्या की सार्थकता प्रमाणित करने का निश्चय किया। चौथे विद्वान ने मना किया पर वे न माने। एक ने अपने विद्याबल से हड्डियों को जोड़ कर सिंह

का ढांचा तय्यार किया। दूसरे ने उसके शरीर के अन्य अवयव पूरे करके सिंह बना दिया। ज्योंही तीसरा उसमें प्राणों का संचार करने लगा त्योंही चौथा विद्वान दौड़कर वृक्ष पर चढ़ गया। प्राणों का संचार होते ही सिंह उठ खड़ा हुआ और तीनों को मार कर खा गया।

इस कहानी से यह शिक्षा मिलती है कि कोरा पढ़ा लिखा उस समय तक बेकार होता है जब तक ज्ञान पच कर व्यावहारिक बुद्धिमत्ता में परिणत न हो जाय और जीवन के व्यापार में सहज बुद्धि द्वारा क्रियात्मक रूप ग्रहण न करले।

## कर्म

सूर्य्य सदैव अपनी कीली पर घूमता है। पृथ्वी अनवरत गति से चहुँ ओर घूमती रहती है। वायु सदैव चलता रहता है। प्रकृति के तत्वों की नियमित गति और प्रगति से हमें कर्मण्यता का उत्तम पाठ प्राप्त होता है।

मनुष्य एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय नहीं रह सकता। क्रिया आत्माका स्वाभाविक गुण है और कर्म करने के लिए ही मनुष्य को मानवजन्म प्राप्त होता है। जीवन क्या है ? यह काम करने का दिन होता है भले ही वह छोटा क्यों न हो ?

कर्मण्यता से बुराई पैदा हो सकती है परन्तु बिना कर्मण्यता के अच्छाई पैदा नहीं हो सकती ! कर्मण्यता से प्रसन्नता का प्राप्त न होना सम्भव है परन्तु कर्मण्यता के बिना प्रसन्नता का प्राप्त होना असम्भव है। उदासी और आलस्य कर्मण्य व्यक्ति से कोसों दूर भागते हैं। कर्मशील व्यक्तियों को उदास होने के बहुत कम अवसर मिलते हैं। कर्मण्यता से जीवन को शक्ति और संयम से सौन्दर्य प्राप्त होता है। जितना ही हम अधिक कार्य करेंगे, उतनी ही अधिक उस कार्य के करने की हमें शक्ति प्राप्त होगी। जितना ही अधिक हम अपने को किसी अच्छे कार्य में व्यस्त रखेंगे उतनी ही अधिक हमें फुर्सत प्राप्त होगी।

मानव शरीर का कोई भी अवयव ऐसा नहीं है जो कर्मण्यता के बिना विकसित हो सके। समस्त शक्तियों से समुचित रीति से पूरा काम लेने पर ही मानव की प्रफुल्लता पूर्ण होती है, परन्तु कर्मण्यता के साथ विवेक और दूरदर्शिता जुड़े होने चाहिए। विवेकहीन कर्मण्यता से अधिक भयंकर कदाचित् ही कोई अन्य वस्तु हो। मुगल सम्राट औरंगजेब अन्य समस्त सम्राटों की अपेक्षा अधिक कर्मण्य था। उसका समस्त जीवन मुगल साम्राज्य

को हस्तगत करने, उसकी रक्षा करने और उसको विस्तृत करने में व्यतीत हुआ। परन्तु उसकी कर्मण्यता विवेकपूर्ण सिद्ध न हुई और हृदय पर अत्य-धिक बोझ रखे हुए उसे यहाँ से विदा होना पड़ा।

जिनके निश्चय बहुत सोच विचार के पश्चात् होते हैं, जो अपने निश्चयों पर अमल करते हैं, जो गौरव के साथ अपनी हार मानते और पूरी शक्ति के साथ किसी बात का विरोध करते हैं, वे कार्य के क्षेत्र में उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। राजा पुरु युद्ध में सिकन्दर से पराजित हुआ। परन्तु उसने गौरव के साथ ही सिकन्दर को आत्मसात् किया। महात्मा लिंकन ने दास प्रथा के उन्मूलन के लिए अर्से तक गृह युद्ध को टाले रखा, परन्तु जब युद्ध अनिवार्य हो गया तब उसमें कूद कर सफ-लता प्राप्ति तक निमग्न रहे। जब महात्मा गांधी भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रबल ब्रिटिश राज्य से असहयोग करने के लिए कटिबद्ध हुए तो वे अकेले थे। देश और विदेश के प्रमुख राजनीतिज्ञ उनके इस निश्चय और साहस पर हंसते थे, परन्तु धीरे २ उनका मार्ग प्रशस्त होता गया और अन्त में वे अपने प्रयास में सफल हो गए। प्रत्येक उच्च कार्य अपना मार्ग स्वयं बना लेता है, क्योंकि उसमें परमात्मा का हाथ रहता है।

प्रत्येक पवित्र कार्य स्वतः अपना पारितोषिक होता है। उसके लिए बाह्य पारितोषिक की आवश्यकता नहीं होती। वह पारितोषिक आन्तरिक प्रफुल्लता होती है जो जीवन को अधिकाधिक उन्नत करती और जिसके सहारे जीवन खूब फलता फूलता है। भीतर से उठने वाली उत्साह और उमंग भय, लज्जा और शङ्का की अनुभूतियों के द्वारा मनुष्य को कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का सहज ही अभ्यास होता रहता है। परमात्मा की सहायता और कृपा के वे ही जन अधिकारी होते हैं, जिनके प्रत्येक विचार और कार्य पवित्र अन्तरात्मा की प्रेरणा और परमात्मा के भय से अनुप्राणित रहकर शुद्ध और पवित्र होते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति उच्च कार्य की सफलता पर

परमात्मा के प्रति कृतज्ञ भावना से आनन्द विभोर हो विनम्र बन जाते हैं।

इस जन्म के कार्य दूसरे जन्म का प्रारब्ध बनाया करते हैं, अतः हमें अपना भविष्य जीवन अच्छा बनाने के लिए इस जन्म में सदैव उत्तम कर्म करते रहना चाहिए। कोई भी कर्म, चाहे वह अच्छा हो या बुरा, कभी नष्ट नहीं होता और न हम उसके फल से बच सकते हैं। अच्छे कर्म से हम उस निधि का निर्माण करते हैं, जो आवश्यकता पड़ने पर हमारा कार्य सिद्ध करती है। कर्म में जितनी निस्पृहता और उच्चता होगी, उतना ही वह श्रेष्ठ होगा। व्यापारी उस दिन को अपने लिए नष्ट हुआ समझता है, जिस दिन उसे लाभ नहीं होता। निष्काम भाव में कर्तव्य भावना से सत्कर्म करने वाले विरले जन उस दिन को नष्ट हुआ समझते हैं, जिस दिन अस्त होता हुआ सूर्य उन पर नहीं मुस्कराता।

कौन काम अच्छा है और कौन काम बुरा, इसका निर्णय करना सुगम नहीं है। संकुचित, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक दृष्टिकोणों से अच्छा काम बुरा और बुरा काम अच्छा देख पड़ने लगता है। यह मतिभ्रम सुख और शान्ति का सबसे प्रबल शत्रु होता है। आज युद्ध के द्वारा शांति और भौतिक सम्पन्नता के द्वारा मानव की समस्याओं के हल का ज्यों २ यत्न किया जाता है, त्यों २ शान्ति दूर भागती और मानवीय समस्याएँ जटिल बनती जा रही हैं। युद्धकाल में नागरिक प्रजा को सुरक्षित रखना युद्ध की एक विशिष्ट मर्यादा मानी गयी है, परन्तु आज शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए नागरिक प्रजा को आतङ्कित करना या उसका विनाश करना युद्धकला मानी जाने लगी है। दुराचार, अनाचार, बलात्कार, लूटमार, हत्या, अग्निकाण्ड, अन्याय और असत्याचरण प्रायः प्रत्येक सभ्य समाज में पाप माने जाते हैं, परन्तु किसी मत (धर्म) विशेष के नाम पर किये गये लूट, मार, हत्या आदि के जघन्य कृत्य पुण्य माने जाते हैं। असभ्य जातियों में दया, न्याय, परोपकार आदि का व्यवहार प्रायः अपने वर्ग के लोगों तक

ही सीमित रहता है। दया और न्याय के साक्षात् प्रतिमान् नेता और शासक अपने वर्ग से बाहर के लोगों के लिए क्रूरता के देहधारी प्रतीक सिद्ध हुए हैं। बेबीलिया के एक राजा की रानी ने जो अपने वर्ग में देवदूत के समान समादृत था अपने पतिदेव के साथ जुआ खेलते हुए दूसरे वर्ग के अपने एक दास का जीवन दाव पर लगाया और राजा के हारने पर राजा की आज्ञा से, उस दास की जिन्दा खाल खिचवाई गई। असभ्य जातियों की असभ्यकालीन यह वर्ग-भावना आज भी राष्ट्रीयता के, उनकी बर्बर पाशविक प्रवृत्तियाँ चमकीली सभ्यता के, और चमड़ी जन्य उच्च नीच की दूषित भावना काले गोरे के भेदभाव में व्यक्त होकर न केवल मानवता को ही लाञ्छित कर रही है, अपितु विश्व में अनाचार, अत्याचार और अशान्ति व्याप्त कर रही है। धन और भोग अमर्यादित रूप में दुःख का कारण माने और तिरस्कृत समझे जाते हैं, परन्तु आज अमर्यादित धन और भोग सुख का साधन और सभ्यता का चिन्ह माना जाता है। जो कर्म मत समुदाय, देश, रंग, जाति और अपने पराये के भेदभाव की कृत्रिम दीवारों को लांघ कर विशाल मानव समाज को लक्ष्य में रखता और मानवता को स्पर्श करता हुआ अपना स्पन्दन परम पिता परमात्मा तक ले जाता हो, वही सत्कर्म कहलाता है। नैपोलियन बोनापार्ट की आज्ञा से एक शत्रु राजा के राजमहल में आग लगाई गई। राजा और राजमहल के निवासी अपनी जान बचाकर भाग गये, परन्तु रोग शय्या पर पड़ा हुआ एक राजकुमार भागने में असमर्थ होने के कारण आग की लपटों में घिर गया। नैपोलियन को ज्योंही इस बात का पता लगा त्यों ही उसने राजकुमार के जीवन की रक्षा की आज्ञा जारी कर दी। सेनापति को नैपोलियन की यह आज्ञा सैनिक अनुशासन के विरुद्ध जान पड़ी। उसने नैपोलियन से इस आज्ञा को रद्द करने की प्रार्थना की। नैपोलियन ने इन्कार करते हुए कहा, "सेनापति! मानवता सैनिक अनुशासन से ऊँची होती है।"

बुरा कर्म पतनकारी होता है। उसके विष का दूषित प्रभाव हमारे समस्त शरीर पर व्याप्त हो जाता है। बहुत से धर्मध्वजी और सदाचार की मूर्ति देख पड़ने वाले व्यक्ति एकान्त में वा रात्रि के अन्धकार में बुरे से बुरा दुष्कर्म करते और समझते हैं कि उनके दुष्कृत्य को कोई नहीं देखता, परन्तु उनके शरीर या मुखाकृति से उनका वह दुष्कर्म दुनिया के लोगों पर प्रकट हो ही जाता है। यदि दुनिया के लोगों पर प्रकट न भी हो तो परमात्मा पर प्रकट हुए बिना नहीं रहता। परमात्मा हमारे प्रत्येक कार्य को देखता है, अतः उसको प्रसन्न रखने के लिए हमें अच्छे ही कर्म करने चाहिएँ। इस भावना के हृदय में बद्धमूल हो जाने पर मनुष्य बहुत सी बुराइयों और अपराधों से बच जाता है।

बिना खतरा मोल लिए अच्छा कार्य करना साधारण बात है, परन्तु अच्छे व्यक्तियों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने को खतरे में डालकर भी उच्च और महान् कार्य करते हैं। इस प्रकार व्यक्तियों के सत्कर्मों से मीठी गंध निकलती है और उस गंध का प्रभाव चिरकाल पर्यंत रहता है। उनके कर्म धूल में भी फूलते फलते रहते हैं। क्या चित्तौड़गढ़ की राख राजपूत रमणियों के आत्म-बलिदान से सुवासित नहीं है?

अच्छे विचारों का महत्त्व होता है, परन्तु उस महत्त्व की रक्षा उन विचारों को क्रियान्वित करने से ही होती है। मनुष्य के कर्म उसके विचारों के द्योतक होते हैं। वृक्ष की पहचान उसके फल से होती है। मनुष्य को विचार और कर्म दोनों में ही महान् होना चाहिए। मर्यादा पुरुषोत्तम राम योगीराज कृष्ण प्रभृति महान् आत्माओं के विचारों का हमें बहुत कम ज्ञान है, हम तो उनके महान् कार्यों के सम्बन्ध में ही पढ़ते और सुनते हैं। इच्छा करना और अवसर प्राप्त होने पर चूक जाना इच्छा न करने के समान होता है। अच्छा काम करने से प्रेम करना और जब अच्छा काम

करने की सम्भावना हो तब अच्छा काम न करना, अच्छे काम से प्रेम न करने के समान होता है।

हमारा जीवन एक पुस्तक के समान है। उसकी विषय सूची का वही भाग महत्वपूर्ण होता है, जो अधिक से अधिक शुभ कर्मों से परिपूर्ण हो और उसके वे ही दृश्य चमकदार होते हैं, जो उच्च कार्यों के वर्णन से प्रकाश-मान् हों।

# जन्म

सम्पन्न और सदाचारी घर में जन्म लेना सौभाग्य सूचक होता है। अच्छे पूर्वजों का गौरव सन्तान के चहुँ ओर प्रकाश की वह किरणें छोड़ता है जिसमें सन्तान के गुण और अवगुण दोनों ही छिपे नहीं रह सकते। अतः अपने घर और पूर्वजों की मान-मर्यादा को स्थिर रखने और बढ़ाने के लिए मनुष्य को अपने को गुणवान बनाना चाहिए। बुरी सन्तान निर्मल सरोवर में काई के समान कुल का दूषण होती है।

मनुष्य को इस बात पर तो कम ध्यान रखना चाहिए कि वह उच्च कुल में जन्मा है परन्तु इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि मृत्यु के पश्चात् उसकी सन्तान आदर और श्रद्धा के साथ उसका स्मरण करे। इसी रीति से उत्तम कुल-परम्परा बनती है।

उच्च कुल का मिथ्याभिमान पतन कारी होता है। सच्ची उच्चता गुणों से प्राप्त होती है। पद अधिकार आदि क्रय किए जा सकते हैं, परन्तु सोना तो गुण के सच्चे सिक्के से ही क्रय किया जा-सकता है। उच्च और सदाचारी कुल के गौरव से वही सन्तान लाभ-उठाती है जो स्वयं अच्छी और गुणवान होती है। इस प्रकार वह सन्तान भी अपने कुल की चमक से चमक जाती है।

महात्मा राम का कुल मर्य्यादा की रक्षार्थ त्याग, तथा आधुनिक काल में राजपूत वीरों और वीराङ्गनाओं का उत्सर्ग इतिहास की अनूठी घटनाएँ बनी हुई हैं। ये घटनाएँ इस बात की द्योतक हैं कि रक्त की शक्ति परिस्थितियों के ऊपर रहती है।

संसार की यह स्वाभाविक रीति है कि वह मनुष्य का मूल्य न तो उसकी धन सम्पदा के परिमाण से, न उसकी वेष भूषा की आत्मा और विशिष्टता से

और न उच्च सिद्धान्तों की दुहाई देते रहने मात्र से अपितु उसके गुणों के पैमाने से आँकता है। एक मात्र उच्च कुल में जन्म लेना शून्य के समान होता है इसके साथ धन बुद्धि और वैयक्तिक विशिष्टता के अङ्कों के इधर उधर जुड़ जाने से ही उसका मूल्य होता है।

राष्ट्र अपने भूत काल पर और व्यक्ति अपने पूर्वजों पर स्वभावतः अभिमान किया और उनके गुण गाया करते हैं। यदि वे अभिमान की वस्तुएँ हों तो जीभ के स्थान में हमारे सतकर्मों को उनका गुणगान करना चाहिए। परन्तु यदि उनमें अभिमान करने की कोई बात न हो तो वे अपमान की वस्तु बन जाया करते हैं। स्वनिर्मित राष्ट्र और व्यक्ति अपने कुल को चमकाते हुए भावी सन्तान के लिए अच्छी परम्परा कायम किया करते हैं।

निःसन्देह जन्म की उच्चता से मनुष्य उच्च प्रेरणा ग्रहण किया करता है परन्तु ऐसी स्थिति भी आ जाती है जबकि यह उच्चता उसके परिश्रम और उत्साह पर पर्दा डाल देती है। ऐसा तब होता है जब कि मनुष्य वृक्ष की शाखाओं की अपेक्षा उसकी जड़ में फलों की खोज करने लगता है। जन्म की उच्चता को बनाए रखने के लिए कौटुम्बिक मर्यादाओं के रक्षण पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। परन्तु यदि वे मर्य्यादाएँ रूढ़ि का स्थान ले लें और उनके थोथे संरक्षण से सन्तान की बर्बादी हो तो उनको तोड़ने में आगा पीछा न होना चाहिए। उनको तोड़ कर स्वास्थमर्य्यादाएँ कायम करने में ही वीरता और कल्याण है।

मानव जाति का मूल एक ही है। कुल, जाति, वर्ग, समुदाय रंग, देश और काल से ही कोई छोटा या बड़ा सम्मानित वा असम्मानित नहीं होता अपितु पवित्र निर्मल अन्तरात्मा एवं शुभ कर्मों से सम्मानित और दूषित अन्तरात्मा तथा दुष्कर्मों से असम्मानित हुआ करता है। शुद्ध और निर्मल अन्तरात्मा सीधी परमात्मा की देन होती है और इसे पवित्र और निर्मल बनाना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ होता है।

# संयम

## ( १ )

संयम शरीर का आभूषण और प्रकाश होता है। शरीर देव-मन्दिर के सदृश्य होता है। मन और इन्द्रियों के संयम के द्वारा ही शरीर के दिव्य स्वरूप की रक्षा संभव होती है। इस स्वरूप की रक्षा करने वाले जन समाज के पथ-प्रदर्शक होते हैं। मन, वचन और कर्म तीनों के संयम से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है। मन का संयम इन्द्रियोंके संयम में, बचन का संयम मन और वुद्धि के संयम में और कर्म का संयम मन, बुद्धि और आत्मा तीनों के संयम में प्रतिलक्षित होता है।

वेंजमिन फ्रैंकलिन कहा करते थे कि मैं चार कारणों से संयम और परहेज को पसन्द करता हूँ। संयम से बुद्धि अधिक स्वच्छ और निर्मल रहती है शरीर का स्वास्थ्य अधिक अच्छा रहता है, हृदय अधिक हलका रहता और मेरी थैली भारी रहती है।

संसार के पदार्थ और भोग मनुष्य के उपभोग के लिए अभिप्रेत हैं। परन्तु उपभोग के वास्तविक आनन्द की सीमा होती है। जब भूख स्वाभाविकता और स्वास्थ्य का अति क्रमण कर जाती है तब ही सीमा का उल्लघंन होकर उपभोग कष्ट प्रद हो जाया करता है। उपभोग का वास्तविक रहस्य सीखना हो तो पशुओं से सीखना चाहिए। पशुओं का रति विषयक संयम अनुकरणीय है। वे ऋतु काल के अतिरिक्त रति कर्म में लिप्त नहीं होते मनुष्य के रति विषयक संयम की रक्षा और परीक्षण के लिए भी यह मर्यादा स्थिर है। बहुत से इस मर्य्यादा की रक्षा करते हैं परन्तु अधिकांश मनुष्यों से इस मर्य्यादा की रक्षा विषयक प्रश्न का संतोष जनक उत्तर मिलना असंभव है। मनुष्य की इतनी ही धृष्टता नहीं है वह तो

यहाँ तक कहने का साहस और धृष्टता करने लगा है कि संयम स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। वह अपने पक्ष के समर्थन में गैर जिम्मेवार चिकित्सकों का अनुभूत मत भी प्रस्तुत करने लगा है। बात यहाँ तक ही समाप्त नहीं है। सिनेमा, डान्स और थियेटरों में अधिक रात गये तक व्यस्त रहने वाले लोगों की प्रेरणा से अथवा उनको पथ भ्रष्ट करके अपनी जेबें भरने की दुष्प्रवृत्ति से चिकित्सक यह कहने लग गए हैं कि ब्राह्म मुहूर्त में जग जाना भी स्वास्थ्य के लिए हानिकर है।

निरन्तर स्वादिष्ट खाना खाने, बढ़िया कपड़ा पहनने, विलासिता और भोग में लिप्त रहने वालों से पूछो कि खाना, वस्त्र और भोगों का सबसे अधिक सच्चा आनन्द वे लेते हैं अथवा वे लोग लेते हैं जो उन वस्तुओं के अधिकारी होकर भी उनका नियम और संयम से उपभोग करते हैं। सच्ची भूख की सन्तुष्टि में आनन्द और कृत्रिम भूख की सन्तुष्टि में क्लेश निहित होता है। संयम और परिश्रम सर्वोतम चिकित्सक होते है। एक से भूख तेज होती है और दूसरा अमर्यादित रूप से उसकी संतुष्टि के लिए मनुष्य को रोकता है।

संयम स्वर्ग की लगाम होती है। जो व्यक्ति इस लगाम का ठीक प्रयोग करता है वह देव कोटि में चला जाता है क्योंकि यह मनुष्य को पशु से मनुष्य और मनुष्य से देव बना देती है।

संयमी व्यक्ति के लिए चिकित्सा और औषधि बहुत कम उपयोग की वस्तुएँ होती हैं। संयमी मनुष्य स्वयं ही निश्चय कर लेता है कि स्वास्थ्य रक्षा के लिए कौन वस्तु उसे लाभ पहुँचाती है और कौन हानि। रोग के शमन के लिए औषधि तो आवश्यक होती ही है परन्तु औषधि से भी आवश्यक परहेज होता है। बहुत से अज्ञानी जन रोग को दूर रखने अथवा उससे मुक्त होने के लिए गंडे तावीज करते और उन्हें घरों में रखते रखाते हैं परन्तु सबसे अमोघ तावीज तो संयम होता है। यदि इसे अपनाया जाय तो रोग न केवल पास ही

न फटके अपितु शीघ्र ही उसका अन्त हो जाय। संयम स्वतंत्र होना चाहिए बलात नहीं; क्योंकि कानून से गुण की सृष्टि नहीं अपितु रक्षा होती है। संयम के स्वतन्त्र होने के लिए पालन पोषण शिक्षण और वातावरण उत्तम और स्वास्थ्य-प्रद होना चाहिए जिसकी आधार शिला सादा जीवन और उच्च विचार की भावना होती है।

जब एक मनुष्य से उसकी असाधारण लम्बी आयु का रहस्य पूछा गया तो उसने बताया कि "मैंने गरिष्ठ पदार्थों के सेवन पर सादे और सात्विक भोजन को तरजीह दी। अमर्यादित मिर्च मसाले और मादक द्रव्यों के सेवन से शरीर में कृत्रिम गर्मी उत्पन्न करने से परहेज किया। इसके फलस्वरूप मेरी कुदरती गर्मी बनी रही। मैंने कुदरत को मदद देने की चेष्टा न की इसलिए कुदरत ने मेरा साथ न छोड़ा। मैं भोजन से कुछ भूख रखकर उठता था। परहेज रखना सरल है परन्तु किसी भोग का आनन्द लेकर मन और शरीर पर काबू रखना कठिन है। इस कठिनाई को पार करते रहने पर मैंने ध्यान रखा इससे मेरा-परहेज और संयम मेरी जवानी के संरक्षक रहे और वृद्धावस्था में सहारा। इसी से मेरे शरीर की शक्ति और स्वास्थ्य बने रहे।"

संयम से न केवल शरीर ही प्रकाशित होता है अपितु यह मनुष्य के चेहरे और व्यक्तित्व के तेज में सुशोभित रहता है। शरीर की शक्ति और स्वास्थ्य, मन की पवित्रता, बुद्धि की सूक्ष्मता और भावना की सुन्दरता के दिग्दर्शन के लिए यह पारदर्शक शीशे का काम देता हुआ मनुष्य को बहुत उत्तम और भव्य रूप में प्रस्तुत करता है।

निस्सन्देह संयम का मार्ग बड़ा बीहड़ होता है। जिस प्रकार धर्म्म आत्मा के लिए अनिवार्य होता है उसी प्रकार संयम शरीर के लिए अनिवार्य होता है। इस सत्य के हृदय में प्रतिष्ठित हो जाने पर व्रत के धनी जन अपने त्याग, तपस्या और दृढ़ इच्छा शक्ति के द्वारा उसे पार करने में समर्थ हो जाते हैं और यही मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ होता है।

# संयम

## ( २ )

कुछ लोग जब यह कहते हैं कि संयम मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है तो उनकी सद्‌भावना पर सन्देह हुए बिना नहीं रह सकता। संयम से स्वास्थ्य की कभी हानि हुई हो, ऐसा न देखा गया है और न सुना गया है। विपरीत इसके संयम सदैव स्वास्थ्य के लिए मंगलकारी होता है। परन्तु जब हम संयम शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा आशय जननेन्द्रिय के ही संयम से नहीं अपितु विचार और शरीर के संयम से भी होता है। बिना इन दोनों के संयम के जननेन्द्रिय का संयम बलात् संयम समझा जाता और इससे शरीर पर अनिष्ट प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में कतिपय प्रामाणिक अवतरणों का उद्‌धृत करना उपयोगी प्रतीत होता है:—

"कामवासना इतनी प्रबल नहीं होती कि उसका नैतिक बल और बुद्धि के द्वारा दमन न किया जा सके। नवयुवकों को नवयुवतियों की तरह उचित समय आने तक आत्म-संयम करना सीखना चाहिए। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि स्वेच्छापूर्वक किए हुए इस त्याग का पारितोषिक उन्हें बलिष्ठ शरीर और निरंतर बढ़ती हुई नवशक्ति के रूप में प्राप्त होगा।"

( प्रो० आस्टनलेन ट्यूबिनगन विश्वविद्यालय )

"शरीर विज्ञान और आचार-शास्त्र के नियमों से संयम और विशुद्ध पवित्रता की पूर्णतया सिद्धि होती है। श्रेष्ठ व्यक्तियों के उदाहरण से समस्त युगों में यह सिद्ध होता रहा है कि दृढ़ इच्छा शक्ति और जीवन-शैली पर पर्याप्त ध्यान देने से दुर्दान्त से दुर्दान्त वासना का सफलता पूर्वक नियन्त्रण हो सकता है। काम के संयम से चाहे वह स्वेच्छा से किया गया हो या विवशता से कभी भी किसी को हानि नहीं पहुँची। यदि कौमारावस्था मन

की एक विशेष अवस्था की द्योतक हो तो इसका पालन करना अधिक कठिन नहीं होता। पवित्रता का अभिप्राय न केवल जननेन्द्रिय के संयम से ही अपितु विचारों की पवित्रता से भी है।"

( रायल कालेज लण्डन के प्रो० सरलीनेलवीले )

"नवयुवकों और नवयुवतियों में यह भाव पाया जाता है कि संयम कोई असाधारण और असम्भव वस्तु है परन्तु संयम का आचरण करने वाले बहुत से व्यक्तियों के उदाहरण से यह सिद्ध हो चुका है कि स्वास्थ्य को हानि पहुंचाए बिना संयम का आचरण हो सकता है।"

(स्विटजरलैंड निवासी सुप्रसिद्ध मनोविज्ञान वेत्ता फोरल)

"मैं २६ से ३० वर्ष वा उससे कुछ अधिक आयु वाले बहुत से व्यक्तियों को जानता हूँ जिन्होंने पूर्ण संयम का जीवन व्यतीत किया था और जो विवाह के बाद भी संयमी बने रहे थे। इस प्रकार के उदाहरण अलभ्य नहीं हैं परंतु वे लोग अपना विज्ञापन नहीं करते।"

(रिब्रिंग)

"पूर्ण संयम अनिष्टकारी होता है यह धारणा भ्रांत और काल्पनिक होती है। इसका घोर प्रतिवाद होना चाहिए क्योंकि इससे न केवल बच्चों का ही अपितु पिताओं का मस्तिष्क भी खराब हो जाता है।"

( डा० ई० मेरियर )

"संयम से न हानि होती है और न विकास कुण्ठित होता है। इससे तो शक्ति बढ़ती और सूक्ष्म दृष्टि विकसित होती है। असंयम से आलस्य और प्रमाद उत्पन्न होता, शरीर विकृत होता और ऐसे रोगों से ग्रस्त होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है जो कई पीढ़ियों तक संतानों में प्रविष्ट कर सकते हैं। यह कहना कि असंयम नवयुवकों की स्वास्थ्य रक्षा के लिए आवश्यक है न केवल भूल ही अपितु अत्याचार भी है।"

"असंयम के अभिशाप सुविदित हैं, संयम की हानियाँ काल्पनिक होती हैं। महान् पुरुषों के जीवन और उनकी उत्कृष्ट रचनाओं से संयम की

महिमा प्रतिपादित होती है। असंयम का औचित्य आज तक किसी इतिहास से सिद्ध नहीं हुआ है।"

(डा० साल्वेड)

"चारित्रिक पवित्रता से उत्पन्न हुए किसी रोग का मुझे ज्ञान नहीं है। समस्त व्यक्ति, विशेषतः नवयुवक और नवयुवतियाँ संयम से तत्काल उत्पन्न होने वाले लाभ से लाभान्वित हो सकते हैं।"

(डा० मौनटे गाज़ा फ्राँस)

"नाड़ी-दौर्बल्य के रोगियों की संख्या उन लोगों में अधिक पाई जाती है जो अत्यधिक विषयी होते हैं। जो पाशविकता के जुए से बचना जानते हैं उनमें नाड़ी दौर्बल्य के बहुत कम रोग पाये जाते है।"

( डा० ड्यूबाइज़ बर्न )

"जितेन्द्रिय पुरुष संयम का आचरण सुगमता से कर सकते हैं। उन्हें अपने स्वास्थ्य के गिरने का कोई भय नहीं होता। स्वास्थ्य-रक्षा काम संतुष्टि पर निर्भर नहीं होती।"

( डा० फेरे )

"नवयुवकों के लिये संयम अनिष्टकारी है इसकी चर्चा बिना सोचे-समझे की जाती है। चिकित्सक के रूप में मुझे संयम के अनिष्टकारी प्रभावों का कोई प्रमाण नहीं मिला, यद्यपि अपने व्यवसाय में मेरा अनेक लोगों से वास्ता पड़ा है। इसके अतिरिक्त शरीर-विज्ञान के अपने अनुभव के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि सच्चा पौरुष २१ वा उसके आस पास की आयु से पूर्व विकसित नहीं होता। यदि समय से पूर्व उत्तेजना पैदा न हो तो काम की इच्छा भी उत्पन्न नहीं होती। काम की उत्तेजना अवास्तविक होती है और प्रायः बच्चों के लालन-पालन की खराबी का परिणाम होती है।"

( प्रो० ऐलफ्रेड फोर्नियर )

"मुख्यतया नवयुवकों को यह सिखाया जाना चाहिए कि पवित्रता और संयम न केवल हानिकारक ही नहीं है अपितु ये उन गुणों में से हैं जिनका चिकित्सा और स्वास्थ्य दोनों के आधार पर हार्दिक समर्थन किया जा सकता है।

समस्त मनुष्यों विशेषतः नवयुवकों को ब्रह्मचर्य्य के प्रसादों का तत्काल अनुभव हो सकता है। ब्रह्मचर्य्य से स्मृति शांत और ताज़ा रहती है। इच्छा शक्ति में स्फूर्ति और मस्तिष्क में बल रहता है। इनके कारण समस्त चरित्र में आकर्षण और सौंदर्य व्याप्त हो जाता है।"

(सेनीटरी इंटर नेशनल कॉंग्रेस के निश्चयों के अंश)

वीर्य्य रक्षा के लिए कौमारावस्था का अधिक से अधिक बढ़ना उपयोगी होता है। यहाँ तक कहा जाता है कि साधारणतया मनुष्य की जितनी कौमारावस्था हो उससे ५ या ६ गुनी आयु तक मनुष्य जी सकता है। यदि कोई २४ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहे तो वह १२० या १४४ वर्ष तक जीवित रह सकता है। परन्तु आजकल ये अवस्थाएँ कहाँ ?

यदि इच्छा न रखते हुए भी किसी अविवाहित वा विवाहित पुरुष या स्त्री के भीतर काम-विकार उत्पन्न होकर वीर्य्यनाश के लिए मन उतावला हो जाय तो उसे निम्नलिखित उपायों में से किसी का आश्रय लेना चाहिए:—

(१) शीतल जल से चित्त के शांत हो जाने तक शिर को बराबर धोते रहना।

(२) बहुत सा ठण्डा पानी पी लेना।

(३) इच्छा न होने पर भी यत्न करके मूत्र त्याग करना और जननेन्द्रिय को ठण्डे जल से तर कर देना।

(४) ईश्वर चिन्तन में लग जाना।

(५) शरीर के नश्वर होने और संसार की असारता का बार बार स्मरण करना।

(६) दुःखी व्यक्तियों और श्मशान आदि का बार बार चिंतन करना।

(७) कौतूहलवर्द्धक किसी खेल में लग जाना या ऐसी ही कोई पुस्तक पढ़ने लगना।

(८) ३-४ फर्लांग दौड़ना या ५०-६० बैठक कर लेना।

(९) उपवास आरम्भ कर देना और चित्त के शान्त होने तक जारी रखना। (उद्धृत)

(१) विवाहित पुरुष को स्मरण रखना चाहिए कि उसकी पत्नी उसका मित्र, सखा और सहधर्मिणी है। एक मात्र कामवासना की पूर्ति का साधन नहीं है।

(२) मनुष्य के जीवन का धर्म्म आत्मसंयम होता है। अतः सम्भोग केवल तभी हो सकता है जब इसके लिए दोनों की इच्छा हो और वह भी उस ढंग से जिन्हें औचित्य की दृष्टि से दोनों ने स्वीकार कर लिया हो।

(३) यदि स्त्री वा पुरुष अविवाहित हों तो उसका कर्त्तव्य है कि वे अपने को पवित्र रक्खें जिससे वे अपने भावी जीवन संगी के प्रति अपनी आत्मा में झूठे सिद्ध न हों। इस निष्ठा के हृदय पर अंकित हो जाने पर यह उनकी समस्त प्रलोभनों से रक्षा करेगी।

(४) सदैव उस अदृश्य शक्ति को ध्यान में रखना चाहिए जिसे हम देख तो नहीं सकते परन्तु जो हमारे घट-घट में निवास करती और हमारे प्रत्येक विचार और काम पर दृष्टि रखती है।

(५) आत्म-संयम के जीवन को नियन्त्रित करने वाले नियम भोग के जीवन के नियमों से भिन्न होते हैं, इसलिए स्त्री-पुरुषों को अपनी संगति को, अपने अध्ययन को, अपने-क्रीड़ास्थलों को और अपने भोजन को मर्य्यादित करना चाहिये। भले और पवित्र व्यक्तियों की संगति में रहने की चेष्टा करनी चाहिए। वासनाओं को भड़काने वाले

उपन्यासों और पत्र-पत्रिकाओं से घृणा एवं मनुष्य समाज की रक्षा करने वाले साहित्य के पढ़ने में रुचि होनी चाहिए।। थियेटरों और सिनेमाओं के गन्दे प्रचार से पृथक रहना आत्यावश्यक है। मनोरंजन वह है जिससे मनुष्य का सुधार हो बरबादी न हो।

(६) भोजन जीभ के स्वाद के लिये नहीं अपितु भूख मिटाने के लिए करना चाहिए। भोगी व्यक्ति खाने के लिए जीता है और संयमी जीने के लिये खाता है। आत्म-संयम का अभ्यास आरम्भ करने पर मनुष्य को स्वतः चटपटे मसालों से और शराब आदि मादक द्रव्यों के सेवन से अरुचि हो जाती है। ये पदार्थ हमारी विवेक बुद्धि को नष्ट करने वाले हैं।

(७) जब मनुष्य कामवासना की उत्तेजना से पराभूत हो जाय तो उसे घुटनों के बल बैठकर परमात्मा से सहायता की याचना करनी चाहिए उस समय हिप बाथ (जल चिकित्सा की एक प्रक्रिया) लेना ठण्डे पानी में टब में बैठकर अपने पैरों को बाहर रखना चाहिए। ऐसा करने से वासना एक दम शान्त हो सकती है। टब में उतनी देर बैठना चाहिए जितनी देर बैठने में सर्दी न लगे।

(८) ब्राह्म मुहूर्त में सोकर उठने और रात को सोने से पूर्व खुली वायु में तेजी से भ्रमण करना चाहिए।

(९) शीघ्र सोना और शीघ्र उठना चाहिए। रात को ९ बजे सो जाना और प्रातः ४ बजे उठ जाना चाहिये। सोते समय पेट खाली रखना आवश्यक है। अतः दिन का अन्तिम भोजन शाम को ६ बजे तककर लेनाचाहिए।

(१०) मनुष्य परमात्मा का प्रतिनिधि होता है जिसका धर्म्म प्राणियों की सेवा करना और इस प्रकार अपने उत्तम कर्मों के द्वारा परमात्मा की महिमा और उसके प्रति अपने प्रेम का प्रकाश करना होना चाहिए। सेवा और परोपकार ही मनुष्य का एक मात्र मनोरंजन होना चाहिये। ऐसा करने से मनुष्य को जीवन में किसी अन्य मनोरंजन व आनन्द की आवश्यकता न रहेगी। (महात्मा गान्धी)

# विवाह

संसार में विवाह प्रथा किसी न किसी रूप में सब जगह पाई जाती है यद्यपि इसके स्वरूप और दृष्टिकोण में भिन्नता है। एक दृष्टिकोण के अनुसार विवाह एक ठेका है; सौदा है जिसे स्त्री पुरुष जब चाहें तोड़ सकते हैं। एक दूसरा दृष्टिकोण यह है कि विवाह ठेका या सौदा नहीं अपितु अटूट आत्मिक और पवित्र सम्बन्ध है जिसमें स्त्री-पुरुष बँधते और आजन्म बँधे रहते हैं। तीसरा दृष्टिकोण यह है कि विवाह एक पुरानी सड़ी गली रद्दी रूढ़ि है जो मनुष्य के सुख सौख्य और स्वाभाविक विकास में बाधक बनकर समाज की शान्ति और एकता को नष्टकर देती है। अतः स्त्री पुरुषों को इसके कुचक्र में पड़ने की भूल कदापि न करनी चाहिए। इस प्रकार का दृष्टिकोण रखने वालों की मान्यता है कि स्त्री पुरुषों को स्वतन्त्रता पूर्वक आपस में मिलकर काम वासना की सन्तुष्टि कर लेनी चाहिए, जब तक प्रेम हो साथ रहना और जब प्रेम न रहे और आपस में न पटे तब अलग होकर दूसरा सम्बन्ध स्थापित करने में स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

पहले और तीसरे दृष्टिकोण की भयंकरता का सम्यक् दिग्दर्शन पश्चिम के देशों में और कहीं-कहीं पूर्वीय देशों में भी हो रहा है। भारत में इनके दुष्परिणामों की कल्पना से ही हृदय काँप उठता है। इस प्रकार के दृष्टिकोणों के दुष्परिणाम स्त्री-पुरुषों के पशुवत-आचरण, कुत्सित प्रतियोगिता, जीवन की अशान्ति, तलाकों की भरमार, उच्छृंखलता, आत्म हत्या, शिशु और भ्रूण हत्याओं में व्यक्त हो रहे हैं। आनन्द यह है कि रोग तन्दुरुस्ती और बुराई अच्छाई मानी और बतलाई जाती है। इस प्रकार के विवाह विषयानन्द के प्रस्तर पर रहते हैं जो प्रेम पर नहीं अपितु पाशविक इच्छा की सन्तुष्टि या सुविधा पर अवलम्बित होते हैं। इस प्रकार के विवाहों के

सम्पन्न होने के कुछ समय बाद ही वासना की उत्तेजना प्रायः समाप्त हो जाती है। फिर तलाक का आश्रय लिया जाकर दूसरा प्रेम सम्बन्ध स्थापित हो जाता और यह क्रम जारी रहता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति विवाह को उपयोगिता से सम्बद्ध प्रथा मानते हैं। पति वा पत्नी के मरने वा पृथक् होने का उन्हें दुःख नहीं होता दुःख तो उन्हें अपनी एक आदत की अतृप्ति पर हुआ करता है। ये लोग विवाह को भरसक टालते रहते और स्वतंत्र आनन्द में लिप्त रहते हैं। ये लोग प्रायः स्वार्थ या विवशता से प्रेरित होकर विवाह करते हैं। सम्पत्ति का उपभोग करने, अच्छी नौकरी प्राप्त करने, दो जायदादों को मिलाने, नाजायज सम्बन्ध वा बच्चे को वैध बनाने, रोग वा वृद्धावस्था में देख-भाल या सेवा शुश्रुषा कराने, भ्रष्ट जीवन से तंग आकर अपने विलासमय जीवन को दूसरा रूप देने के लिए ही उनके द्वारा विवाह का आश्रय लिया जाता है। परन्तु दुःख है कि विवाह हो जाने पर भी इनकी लम्पटता में जिसका सूत्रपात अविवाहित जीवन में होता है, कमी होने के स्थान में वृद्धि हो जाती है। सदाचार का मापदण्ड स्त्री पुरुष के लिए एक जैसा होना चाहिये; यह दूषित भावना स्त्रियों को व्यभिचार और दुराचार मय जीवन के लिए अधिकाधिक प्रेरित करने का कारण बन जाती है। कृत्रिम साधनों के खुले प्रचार, उनके व्यापक प्रयोग और गर्भपात की सुविधाओं के कारण यदि ऐसे लोग विवाह का मखौल उड़ाएँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? ×

---

× Marriage is always, according to my judgement one of the most barbarous institutions ever imagined. I have no doubt that it will be abolished if the human race makes ony progress towards justice and reason.

एक प्रसिद्ध पाश्चात्य लेखक)

विवाह से बचने वा विवाह न करने के दृष्टिकोण के चुनने के दो कारण होते हैं। एक तो वैवाहिक कर्तव्यों और उत्तरदायित्व से डर जाना। विवाह से सुख भी मिलता है और चिन्ता भी बढ़ती है। जो व्यक्ति विवाह के केवल सुखमय पहलू को देखते हैं वे ही प्रायः उससे डरते हैं। दूसरा कारण विवाह-प्रथा का अपने उच्च स्थान से नीचे गिर जाना है। विवाह-प्रथा के उठा देने से जो खराबियाँ व्याप्त होती हैं उनकी कल्पना ही भयावह है। व्यक्तियों का विकास एक दम कुण्ठित हो जाने से व्यक्ति और समाज दोनों ही विनाश की ओर अग्रसर हो जाएँगे। पारिवारिक जीवन नष्ट भ्रष्ट होकर समाज में तबाही मच जाएगी। कोई किसी के सुख दुःख में सम्मिलित होना, असहाया, वृद्धा वा रुग्णावस्था में देख भाल और सेवा-टहल करना अपना कर्तव्य न समझेगा। समाज सन्तानों मुख्यतया श्रेष्ठ सन्तानों से शून्य हो जाएगा। इस सम्बन्ध में १९१६ में ३ जून के यंग इण्डिया में विश्व वन्ध्य महात्मा गान्धी ने एक बड़ा सुन्दर लेख लिखा था जो इस प्रकार है:—

"मेरे एक परिचित सम्वाददाता ने एक विवादास्पद बात उठाई है जिसका मेरे लिए केवल सैद्धान्तिक मूल्य है क्योंकि मैं जानता हूँ कि जो विचार उन्होंने प्रस्तुत किए हैं वे उनके अपने नहीं हैं? वे पूछते हैं क्या आजकल की नैतिकता अस्वाभाविक नहीं है यदि यह स्वाभाविक होती तो सार्वत्रिक और सार्वकालिक होती। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक जाति और वर्ग के विवाह सम्बन्धी नियम पृथक् पृथक् अपने ढंग के होते हैं और उन नियमों को क्रियान्वित करते हुए मनुष्य ने अपने को पशुओं से भी निकृष्ट बना लिया है। जिन रोगों का पशु-जगत् में नाम नहीं सुना जाता वे ही मनुष्य समाज में व्यापक रूप में पाये जाते हैं। बाल-हत्या, भ्रूण-हत्या और बाल-विवाह जो पशु जगत् में असम्भव बातें होती हैं वे ही विवाह को पवित्र सम्बन्ध मानने वाले समाज के अभि-

शाप होते हैं। जिन्हें हम सदाचार के नियम मानते हैं उनसे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों का अन्त नहीं है। ओह ! हिन्दू-विधवाओं की दयनीय अवस्था ! इसका कारण क्या है ? क्या इसके लिए वर्तमान विवाह-प्रथा उत्तर दाता नहीं है ? ऐसी परिस्थिति में प्रकृति का अनुसरण करके पशु जगत् से शिक्षा ग्रहण क्यों न की जाय ?"

मुझे पता नहीं है कि पाश्चात्य देशों में स्वतन्त्र प्रेम के प्रचारक उपर्युक्त प्रकार के तर्क का आश्रय लेते हैं वा नहीं ? उनके पास इससे अधिक प्रबल हेतु हैं या नहीं ? परन्तु इतना निश्चित है कि वैवाहिक बन्धन को पाशविक मानने वाली प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः पाश्चात्य है। यदि यह तर्क पश्चिम से ग्रहण किया हो तो इसका उत्तर देना कठिन नहीं है।

मनुष्य की पशु के साथ तुलना करना भूल है। इस प्रकार की तुलना करने से सारे तर्क का खण्डन हो जाता है क्योंकि मनुष्य की नैतिक प्रवृत्तियाँ और प्रथाएँ पशु से उच्च होती हैं। प्रकृति का जो नियम एक पर लागू होता है वह दूसरे पर लागू होने वाले नियम से भिन्न होता है। मनुष्य में विवेक-बुद्धि और स्वतंत्र इच्छा होती है। पशु में इस प्रकार की कोई इच्छा नहीं होती। पशु न तो स्वतन्त्र कर्ता होता है और न धर्म्म-अधर्म और अच्छे बुरे में भेद करसकता है। मनुष्य स्वतन्त्र कर्ता होने से इनमें भेद कर सकता है। जब वह धर्म्म का अनुसरण करता है तब वह अपने को पशु से उच्च सिद्ध करता है और जब वह अनीति की राह पर होता है तब वह पशु से भी निकृष्ट बन जाता है। घोर असभ्य मानी जाने वाली जातियों में भी स्त्री पुरुष के रति सम्बन्धों में संयम को थोड़ी बहुत मान्यता दी जाती है। यदि यह कहा जाय कि संयम स्वयं पाशविक होता है तब तो प्रत्येक प्रकार का असंयम मनुष्य की रीति नीति होनी चाहिए। यदि समस्त मनुष्य इस नियम विहीन नियम पर चलने लग जायँ तो २४ घण्टे के भीतर-भीतर पूर्ण अराजकता व्याप्त हो जाय। पशु की अपेक्षा मनुष्य स्वभावतः अधिक विषयासक्त होता

है और सब प्रकार के प्रतिबन्धों और संयम के हटते ही निरंकुश विषय वासना के ज्वालामुखी का विस्फोट होकर समस्त मानव जाति का विनाश हो जायगा। मनुष्य में आत्म-संयम और त्याग की क्षमता होती है पशु में नहीं। इसी रूप में मनुष्य पशु से श्रेष्ठ होता है। आज के बहुसंख्यक रोगों की उत्पत्ति का कारण वैवाहिक नियमों का उल्लंघन करना है। मैं किसी ऐसे व्यक्ति का उदाहरण जानना चाहूँगा जो वैवाहिक जीवन में पूर्ण संयम से रहता हुआ भी उन रोगों से पीड़ित हुआ हो जो मेरे सम्वाददाता के मस्तिष्क में हैं। बाल-हत्या, बाल-विवाह और इन जैसे अभिशापों का कारण भी वैवाहिक नियमों का उल्लंघन ही है।

नियम यह है कि संयम की क्षमता और सन्तान की इच्छा रखने वाले स्वस्थ और वयस्क स्त्री-पुरुष को विवाह करना चाहिये। इस नियम का दृढ़ता से पालन करने और विवाह को पवित्र बन्धन मानने वाले को दुखी होने का अवसर प्राप्त नहीं होता। ऐसा विवाह आत्माओं का पारस्परिक मिलन होता है शरीरों का नहीं और यह सम्बन्ध स्त्री-पुरुष दोनों में से किसी की मृत्यु के पश्चात् भी नहीं टूटता। जहाँ आत्माओं का इस प्रकार का वास्तविक मेल होता है वहाँ विधवा वा विधुर के पुनर्विवाह की बात अचिन्त्य, अनुचित और अशुद्ध होती है। वैवाहिक पवित्रता से शून्य विवाह को विवाह नहीं कह सकते। यदि आज कल हमें सच्चे विवाहों के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं तो इसमें विवाह प्रथा का दोष नहीं है दोष तो विवाह के प्रचलित स्वरूप का है जिसका सुधार होना चाहिए।

हमारे सम्वाददाता यह तर्क उपस्थित करते हैं कि विवाह धार्मिक या नैतिक बंधन नहीं अपितु एक सामाजिक प्रथा है और जो प्रथा या रिवाज नैतिकता का विरोधी हो उसे मिटा देना चाहिये। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि विवाह वह घेरा है जिसमे धर्म्म की रक्षा होती है। यदि इस घेरे को हटा दिया जाय तो धर्म्म का नाश हो जायगा। धर्म्म का [illegible]ार

संयम होता है। संयमहीन मनुष्य आत्म-बोध की आशा न कर सकता। मैं स्वीकार करता हूँ कि किसी नास्तिक या जड़वादी के मन पर संयम की आवश्यकता अंकित करना कठिन है। परन्तु जो व्यक्ति यह जानते हैं कि शरीर नाशवान् और आत्मा अनश्वर है वे स्वभावतः यह भी जानते हैं कि बिना आत्म-त्याग और आत्म-संयम के आत्म-बोध असम्भव होता है। हमारा यह शरीर या तो वासना का क्रीणाक्षेत्र हो सकता है या आत्म-बोध का मंदिर।

यदि शरीर आत्म-बोध का मन्दिर होगा तो वासना को खुली छुट्टी न मिल सकेगी। आत्मा को प्रतिक्षण शरीर को संयम में रखने की आवश्यकता रहती है। जहाँ विवाह बन्धन ढीले होते हैं और संयम नहीं किया जाता वहाँ स्त्री बैर-विरोध का कारण बन जाती है। यदि मनुष्य पशु समान संयम शून्य हो जाय तो उसके विनाश में देर न लगे। मेरी यह दृढ़ सम्मति है कि हमारे सम्वाददाता को जिन त्रुटियों की शिकायत है उनका निवारण विवाह-प्रथा का अन्त होने से नहीं अपितु वैवाहिक नियम को समझने और उस पर आचरण करने से संभव होगा।

मैं मानता हूँ कि कई जातियों में निकट सम्बन्धियों में विवाह विहित और कई में वर्जित होता है। कुछ जातियों में बहु विवाह वैध और कुछ में अवैध होता है। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहेगा कि सब जातियों में आचार विषयक नियम एक जैसे होने चाहिएँ फिर भी विभिन्नता का अभिप्राय यह नहीं है कि सब प्रकार का संयम मिटा दिया जाय। ज्यों-ज्यों हमें अनुभव से ज्ञान की प्राप्ति होगी त्यों-त्यों हमारी नैतिक भावना में सादृश्य आता जायगा। आज भी संसार की नैतिक भावना एक विवाह की मर्य्यादा को अत्युच्च आदर्श मानती है और कोई भी धर्म्म बहु-विवाह को अनिवार्य नहीं ठहराता। यदि देश और काल के प्रभाव से इस मर्यादा में कुछ ढीलापन आ जाता है तब भी आदर्श अक्षुण्ण बना रहता है।

विधवा-विवाह के सम्बन्ध में मेरे विचार सर्वविदित हैं। उनकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है क्योंकि मैं बाल विधवाओं के विवाह को न केवल आवश्यक ही समझता हूँ अपितु ऐसा करना उन माता पिताओं का अनिवार्य कर्त्तव्य समझता हूँ जिनके घर में इस प्रकार की विधवाएँ बैठी हों।"

दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार विवाह अटूट आत्मिक सम्बन्ध होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार स्त्री-पुरुष विशेष प्रतिबन्धों के साथ उद्देश्य विशेष की सिद्धि के लिए आपस में मिलते हैं। धर्म्म युक्त कर्म, अपने वर्ण के अनुसार कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान, नैतिकता और शिष्टता की रक्षा के साथ-साथ सन्तानोंत्पत्ति पालन-पोषण आदि उद्देश्य हैं। विद्या, बल, सभ्यता, समान गुण कर्म स्वभाव, धन, ठीक आयु तथा हर प्रकार की क्षमताएँ खास प्रतिबन्ध हैं। विवाह पवित्र सम्बन्ध होता है अपने को तथा समाज को श्रेष्ठ बनाने के लिये किया जाता है। विवाह एक विलक्षण गाड़ी होती है जिसमें स्त्री-पुरुष पहियों के समान होते हैं।

पहले दृष्टिकोण को पश्चिम का और दूसरे को पूर्व (भारत) का दृष्टि कोण कह सकते हैं। इन दोनों के सम्बन्ध में एक बड़ी मनोरंजक उक्ति प्रचलित है। पश्चिम के दृष्टिकोण के अनुसार (Love ends when married) अर्थात् विवाह होते ही स्त्री-पुरुष के प्रेम का अन्त हो जाता है। पूर्व के दृष्टि कोण के अनुसार Love begins when married अर्थात् विवाह होते ही प्रेम आरम्भ हो जाता है।

कुल की उत्तमता विवाह की श्रेष्टता की अनिवार्य शर्त है। उत्तम कुल के लड़के और लड़की का ही आपस में विवाह होना चाहिये। पवित्रता, सादगी उत्तम व्यवहार और श्रेष्ठ वातावरण कुल की उत्तमता की कसौटी है न किञ्चन वैभव, शान-शौकत, ठाठ-बाट और आचरण विहीन विद्या ज्ञानादि उत्तम कुल के लड़कों और लड़कियों के संस्कार प्रायः अच्छे होते हैं और

ऐसे जोड़ों के वैवाहिक जीवन के सुखी होने की पूरी पूरी संभावना होती है। पाश्चात्य देशों में आए दिन प्रेम-प्रणय ( Love marriage ) कहे जाने वाले विवाह होते हैं। ऐसे विवाहों के दुष्परिणामों को देखते और सुनते हुए उन्हें वासना-प्रणय ( Lust marriage ) कहना अधिक उपयुक्त होगा। वासना से अन्धा होकर एक दूसरे के कुल और पूर्व इतिहास को जाने बिना आत्म-समर्पण कर देना वासना-प्रणय कहलाता है। अतः विवाह में कुल और लड़के लड़की का पूर्व इतिहास जानना परमावश्यक है।

बर और बधू के चुनाव में लड़के और लड़की की पसन्द मुख्य होनी चाहिये। विवाह के समय उनकी विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल और शारीरिक परिमाण आदि यथा योग्य होना चाहिये। अपने जीवन संगी को चुनते समय लड़के और लड़की को पूर्ण सावधानता से काम लेना चाहिये। उत्तम चुनाव केलिए उन्हें अपने माता-पितादि गुरुजनों की सम्मति अवश्य लेनी चाहिये। वे संसार के अपने अनुभव से उनका अच्छा मार्ग-प्रदर्शन कर सकते हैं। यदि वे साँस्कृतिक, चारित्रिक, शारीरिक और कौटुम्बिक पवित्रता की रक्षार्थ चुनाव को पसन्द न करें तो लड़के और लड़की को अपना चुनाव बदल देना चाहिए। युवावस्था की गर्मी से अपने दिमाग को बचाकर उनके आदेश-निर्देश को सुनना, समझना और मानना चाहिये। बहुत सी अवस्थाओं में उनके आदेश-निर्देश का मूल्य और उनकी भावनाओं का यथार्थ अनुभव लड़कों और लड़कियों को स्वयं माता-पिता जैसी परिस्थितियों में ग्रस्त होने पर ही होता है। जो बच्चे अपने माता पितादि गुरुजनों के आदेश निर्देश की परवाह नहीं करते उनको यह बात अपने पल्ले में बाँध लेनी चाहिये।

गृहस्थ में प्रविष्ट होने वाले लड़कों और लड़कियों की पृथक पृथक योग्यता की आवश्यकता होती है। पहली बात जो किसी लड़के के लिए आवश्यक है वह ब्रह्मचर्य है। उसे कम से कम २८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य

पूर्वक विद्याध्ययन करने के पश्चात् गृहस्थ प्रवेश की इच्छा करनी चाहिये।

दूसरी उपयुक्त बात यह है कि लड़के के पास पर्याप्त धन होना चाहिये जिससे यह गृहस्थ का पालन कर सके।

यदि धन न हो तो कोई व्यवसाय करके विवाह का साधन कर लेना चाहिए। बेरोजगारी के इस युग में नवयुवकों को यह बात हृदयङ्गम करनी चाहिये। दुर्भाग्य से माता-पिता बहुधा कमाने में समर्थ होने से पूर्व ही अपने बच्चों का विवाह कर देते हैं। उनकी यह बड़ी भारी भूल है। बेकार दामाद का अपनी ससुराल पर भरण पोषण के लिये आश्रित रहना जाति के दुर्भाग्य का कारण बन जाता है। दुःख है भारत में इस प्रकार के दामादों की संख्या बढ़ रही है। यह एक दम अवांछनीय है।

तीसरी आवश्यक बात यह है कि विवाहार्थी युवक को अपना दृष्टिकोण ऐसा बनाना चाहिये जिससे वह पत्नी को समानाधिकार वाले मित्र की तरह समझे और उसके साथ उसी प्रकार का व्यवहार कर सके। इसके लिये उसे स्त्री-पुरुष की स्थिति और अधिकारों को समझ लेना आवश्यक है। उपनिषद् में एक जगह अलङ्कार रूप में गार्हस्थ शरीर को उतने परिमाण का बतलाया है जितना स्त्री पुरुष दोनों मिलकर होते हैं। जब गार्हस्थ शरीर के दो भाग किए तो वे पति पत्नी हुए। इसलिए वे आधे-आधे भाग (पति + पत्नी) एक दाने की दो दालें अथवा पूरी सीप के दो भागों (आधे २ सीप) के सदृश्य हुये। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार एक दाने की दो दालें अथवा एक सीप के दो आधे बराबर बराबर होते हैं उसी प्रकार पति पत्नी में समता होनी चाहिये। समता को स्वीकार करने पर युवक और युवती गृहस्थाश्रम को ऊँचा और गृहस्थ जीवन को उत्तम बना सकते हैं।

प्राणीशास्त्र में जीवों के दो भेद हैं। एक अनुलोम प्राणी Creating body जिसमें निर्माण क्रिया होती है दूसरा प्रतिलोम प्राणी (Destr-

oying body ) जिसमें विध्वंसकारी बल होता है। विध्वंस सदैव रचना के बाद हुआ करता है। इसलिये पहला नम्बर स्त्री का और दूसरा पुरुष का होना चाहिए। कम से कम उनकी समानता में तो आपत्ति ही नहीं हो सकती। इस समानता का तात्पर्य केवल इतना ही है कि अपने लिंग भेद (Sex) की दृष्टि से वह अधिक से अधिक उन्नति कर सकता है। उन्नति का द्वार प्रत्येक के लिए खुला रहना चाहिये। कुछ कार्य ऐसे हैं जो केवल पुरुषों के लिये हैं और कुछ ऐसे हैं जो केवल स्त्रियों से सम्बद्ध होते हैं। जो कार्य केवल पुरुषों के लिये हैं उन्हें स्त्रियाँ नही कर सकतीं और जो कार्य केवल स्त्रियों के लिये हैं उन्हें पुरुष नहीं कर सकते। कर्त्तव्यों की इस विभिन्नता की दृष्टि से पुरुष और स्त्री की शिक्षा में भिन्नता का होना अनिवार्य है। दु:ख है वर्तमान शिक्षा-पद्धति इस भेद को महत्व नहीं दे रही है। परिणाम यह हो रहा है कि पुरुषों और स्त्रियों में अनुचित आर्थिक प्रतियोगिता व्याप्त हो गई है और नैतिक तथा चारित्रिक पतन के अतिरिक्त घर और सन्तान के बनाने के कार्य को हानि पहुंच रही है।

चौथी महत्व पूर्ण बात यह है कि नव युवकों को दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि वे पत्नी व्रत के नियम का दृढ़ता के साथ पालन करेंगे और किसी दशा में भी इस संकल्प को तोड़कर एक पत्नी की विद्यमानता में दूसरा विवाह व परस्त्री गमन न करेंगे।

कई वर्ष हुए एक विद्वान् ने कुदरत के उदाहरणों के द्वारा यह सिद्ध किया था कि प्रत्येक पुरुष को एक ही विवाह करने और एक ही स्त्री रखने की ईश्वराज्ञा है। उस विद्वान् ने समस्त संसार की नर-नारियों की संख्या से यह हिसाब लगाया था कि संसार में जितने पुरुष हैं प्राय: उतनी ही स्त्रियां हैं। स्त्रियों और पुरुषों की संख्या प्राय: बराबर है। इस हिसाब से लड़के और लड़कियाँ भी बराबर हैं। यूरोप और अमेरिका आदि

जितने सफेद चमड़ी वाले देश हैं उनमें प्रति १०० पुरुषों के मुकाबले १०१ स्त्रियाँ हैं। अमेरिका में हब्शियों में भी स्त्री-पुरुषों की यही संख्या है। जापान में प्रति १०२ पुरुषों के मु काबले में १०० स्त्रियाँ हैं। भारत में कुछ विशेषता है जो ध्यानमें रखने योग्य है। यहाँ १०४ पुरुषों के मुका-बले में १०० स्त्रियाँ हैं अर्थात् पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कम हैं। अतएव एक पुरुष को एक स्त्री से अधिक रखना अन्याय ईश्वराज्ञा और कुदरत के नियमों का उल्लंघन है। संसार के मुख्यतया भारत के नवयुवकों को यह बात अपने हृदयों पर अंकित कर लेनी चाहिए।

पाँचवी आवश्यक बात यह है कि नवयुवकों को विवाह का वास्तविक उद्देश्य समझ लेना चाहिये। विवाह का उद्देश्य जैसा कि पूर्व बताया जा चुका है श्रेष्ट सन्तान उत्पन्न करना और अपना विकास करना है।

अंतिम बात नवयुवकों को यह हृदयङ्गम कर लेनी चाहिए कि घर का समस्त कोष, धन इत्यादि पत्नी के अधिकार में रहेगा वह केवल निरीक्षण रक्खेगा जिससे उसका अपव्यय न होने पाए।

साराँश यह है कि उपर्युक्त योग्यताओं को धारण करके ही नवयुवकों को गृहस्थ में प्रवेश करना चाहिए।

कन्या को भी कम से कम १६ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुये अध्ययन करके अपने को योग्य बनाना चाहिए। गृहकार्य्य में क्षमता, सीने-पिरोने आदि में कुशलता और सन्तान के पालन-पोषण में सिद्धहस्तता प्राप्त करके ही कन्या को गृहस्थ में प्रविष्ट होना चाहिये। पति ब्रत धर्म के पालन में दृढ़ संकल्प होना और किसी दशा में भी पर पुरुष को पति का स्थान न देना चाहिए।

विवाह प्रथा सबसे अधिक अनमेल विवाहों के कारण विकृत होती है जिसके कई भेद प्रचलित हैं। मुख्य भेद आयु और योग्यता से सम्बद्ध होता है। आयु की दृष्टि से अनमेल विवाह जितने निकृष्ट होते हैं योग्यता अर्थात्

गुण, कर्म, स्वभाव, विद्या रूप, बल और शील आदि की दृष्टि से वे उतने ही दुःखदायी सिद्ध होते हैं। दहेज आदि की कुरीतियाँ इनकी भयंकरता को और भी बढ़ा देती हैं। भारत में दहेज प्रथा के अभिशापों की कहानी बड़ी लम्बी, दुःखद और कारुणिक है। इसके फलस्वरूप लड़कियों को बलात् कौमार्य्य की धधकती भट्टी में जलना पड़ता है। इतना ही नहीं इससे अनेक प्रकार की खराबियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अनमेल विवाह और अमर्य्यादित दहेज प्रथा से कृत्रिम साधनों के प्रयोग की संभावनायें उत्पन्न होकर उन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन मिल जाता है। बड़ी आयु की कुमारियों से कुत्सित वातावरण में, जिससे हम आज कल घिरे हुये हैं, शुद्ध और पवित्र रहने की आशा करना दुराशा मात्र है।

विवाह के उपर्युक्त आदर्श हृदय पर अङ्कित हो जाँय इसके लिये विवाह की आधार भूत सच्चाइयों पर विचार करना उपयुक्त होगा। विवाह के लक्ष्य में व्यष्टि और समष्टि अर्थात् मनुष्य और समाज दोनों होते हैं। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक स्वाभाविक आकर्षण वा प्रेम का सम्यक् विकास और प्रकाश विवाह द्वारा होता है और यह प्रेम धीरे-धीरे गाढ़ा और अटूट बन जाता है। रूप लावण्य व काम से उत्पन्न भावना वासना कहलाती है प्रेम नहीं कहलाता। वासना सन्तुष्टि और बदला चाहती है। निराश और अतृप्त वासना प्रेमीजनों को अपना या अपने प्रेमी वा प्रेयसी का जीवन लेने की भी प्रेरणा कर देती है। प्रेम बदला नहीं चाहता। वह आत्मा से सम्बद्ध बहुमूल्य वस्तु होती है। सीता, सावित्री, दमयन्ती आदि सद्नारियाँ प्रेम की साक्षात् मूर्ति थीं। भारतीय नारी की पतिनिष्ठा ने उसके प्रेम को आत्मोत्सर्ग और कष्ट सहिष्णुता के रूप में देदीप्यमान् बनाये रखा है और इतिहास की अनूठी वस्तु बनी हुई है।

पुरुष और स्त्री एक दूसरे के पूरक होते हैं। मनुष्य का काम बिना स्त्री के और स्त्री का बिना पुरुष के नहीं चल सकता। दोनों में अपनी-अपनी

शारीरिक और मानसिक विशेषतायें होती हैं जिनका विकास विवाह द्वारा ही हो सकता है। यदि पुरुष स्त्री का काम करने लग जाय और स्त्री पुरुष का तो इस श्रम वैपर्य्य से समाज का संगठन छिन्न-भिन्न होकर दोनों का व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन दुःखदायी बन जाता है। स्त्री का परम विकास अच्छी गृहणी और अच्छी माता और पुरुष का सद्गृहस्थ एवं अच्छा पिता बनने से होता है।

स्त्री पुरुष की पारस्परिक प्रसन्नता में जहाँ कई आवश्यक तत्व काम करते हैं वहाँ पुरुष का पुरुषत्व भी विशेष स्थान रखता है। काम की अतृप्ति के कारण स्त्रियों में विविध प्रकार के रोगों की उत्पत्ति इसका प्रबल प्रमाण है। नपुंसकता भी इसीलिये विवाह-विच्छेद का कारण स्वीकार किया गया है। इसीलिये वर और वधू का विवाह के समय ब्रह्मचारी होना और विवाह के बाद भी संयमी रहकर पुरुषत्व बनाये रखना आवश्यक ठहराया गया है। काम वासना के प्रयोग का औचित्य सन्तानोत्पत्ति माना गया है और यही आदर्श है और होना चाहिए। परन्तु मनुष्य इसका प्रयोग केवल सन्तानोत्पत्ति से प्रेरित होकर करता हो बात यह नहीं है। इस इच्छा के बिना भी मनुष्य काम में प्रवृत्त हो जाता है। क्या विश्वामित्र और मेनका के रतिप्रसंग में सन्तान की इच्छा ने काम किया था? काम की तृप्ति का अनिवार्य्य फल सन्तानोत्पत्ति है। स्त्री पुरुष के कुत्ते कुतियों जैसे अमर्य्यादित और अशोभनीय रति-व्यवहार को नियंत्रित करने, एक पति और एक पत्नीव्रत का रक्षण करने और सन्तान को समाज में वैध स्थिति देकर उसके पालन पोषण का उत्तरदायित्व निर्धारित करने के उद्देश्य विशेष से भी विवाह प्रथा अस्तित्व में आई है। कामवासना की सन्तुष्टि ही मानव का ध्येय न बने इसके लिये इसका प्रयोग केवल मात्र सन्तानोत्पत्ति तक सीमित रखा गया है। ऐसा करने से व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण सिद्ध हो जाता है। मनुष्य बिना विवाह किये सन्तान उत्पन्न कर सकता है परन्तु

उसका पालन पोषण और रक्षण बिना विवाह किये वा घर बसाये नहीं कर सकता। जो देश इस स्वाभाविक नियम का उल्लंघन करते हुए राजकीय प्रयत्न वा व्यवस्था के द्वारा बच्चों के पालन-पोषण का यत्न करते हैं वे माता-पिता के वात्सल्य के अभाव के कारण बच्चों का सम्यक् विकास करने में सफल नहीं होते। यदि परिवार की सृष्टि न हो तो भाई, बहिन, चाचा; ताऊ आदि रिश्ते भी न हों। पारिवारिक शान्ति और बच्चों के उचित पालन पोषण के लिये एक पत्नी या एक पतिव्रत का पालन अनिवार्य्य होता है। इस मर्य्यादा का उल्लंघन होने से जहाँ माता पिता की अपनी दुर्दशा होती है वहाँ बच्चे भी बर्वाद हो जाते हैं। इस मर्य्यादा में बच्चों का हित कितनी सूक्ष्मता से निहित है जब हम इस बात पर विचार करते हैं तो अनायास ही इस मर्य्यादा के पृष्ठ-पोषकों के लिये हृदय से साधुवाद निकल पड़ता है। वस्तुतः परिवार समाज की इकाई होता है। जो व्यक्ति विवाह को एक रिवाज या रूढ़ि समझते हैं वे इसके इस सामाजिक पहलू की उपेक्षा करके अपने अज्ञान का खेदजनक परिचय देते हैं। यह तो मानव-समाज के भवन का विशिष्ट पत्थर होता है। कामवासना के मन्द पड़ते रहने पर परिवार की महत्ता मनुष्य पर अङ्कित होती रहती है। जब माता पिता के प्रेम का स्थान बच्चे लेने लग जाते हैं तब संयम का मार्ग अनायास ही बनने लगता और मनुष्य आध्यात्मिकता की ओर पग बढ़ाने लग जाता है। तभी तो कहा जाता है कि विवाह कामुकता के प्रयोग का लाइसेंस नहीं अपितु सामाजिक कर्त्तव्य का विधान होता है।

वैवाहिक जीवन के उपभोग की समस्त सामग्री उपलब्ध रहने पर भी इसकी उत्तमता मनुष्य के अपने प्रयत्नों पर निर्भर करती है। उचित उपयोग से वैवाहिक जीवन स्वर्ग और अनुचित उपयोग से नर्क बन जाता है। वैवाहिक जीवन को स्वर्ग बनाने के लिये एक अनिवार्य्य शर्त पति-पत्नी का अटूट प्रेम, विश्वास और श्रद्धा है। इसके लिये सबसे आवश्यक बात स्त्री

के प्रति स्वस्थ मनोवृत्ति का होना है। संसार के इतिहास में वह समय बड़ा अशुभ था जब स्त्री के प्रति अप्रतिष्ठा के भावों का बीज बोया गया। परिणाम यह हुआ कि स्त्री मनुष्य की दासी और क्रीड़ा की वस्तु बना दी गई। इतना ही नहीं भावना शून्य पशु के समान उसके साथ अमानुषिक व्यवहार किया जाने लगा। शताब्दियों पर्य्यन्त हुए इस अपमान के प्रति नारी जाति के हृदय में घृणा का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। आज यह घृणा विविध प्रतिक्रियाओं के रूप में व्यक्त होती देख पड़ती है जिनसे मनुष्य समाज की आत्मा काँप गई है। अतः स्त्री जाति के प्रति श्रद्धा और प्रतिष्ठा को जितना शीघ्र प्रतिष्ठित किया जाय उतना ही संसार के हित के लिए आवश्यक है। स्त्री के पथ-भ्रष्ट होने का मुख्य कारण पुरुष होता है अतः पुरुष समाज को घोर प्रायश्चित करना और स्त्री जाति के प्रति अपनी मनोवृत्ति को स्वस्थ और पवित्र बनाना होगा।